॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

****

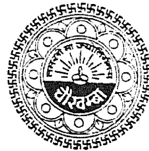
श्रीमन्नारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेश-मित्रलाभः

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः

व्याख्याकारः

न्यायाचार्य श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

No YECN

प्रकाशक	:	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक	:	चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण	:	पुनर्मुद्रित, सन् १९९९
मूल्य	:	रु. ३०.००

ISBN : 81-7080-032-3

पोस्ट बॉक्स नं० १००८

के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

गोलघर (मैदागिन) के पास

वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

फोन : ३३३४५८ (आफिस)
३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

कृष्णदास अकादमी

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक

पोस्ट बॉक्स नं० ११९८,

के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन,

वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

फोन : ३३५०२०

कथासार

कथामुख (पृ० ५)

गंगाजीके तटपर पटना नगर है। वहाँ एक गुणवान् राजा रहते थे, जिनका नाम सुदर्शन था। उन्होंने पढ़ते हुए विद्यार्थीसे दो श्लोक सुने, जिनका यह आशय था—'अनेक संदेहोंको मिटानेवाला और परोक्ष पदार्थको दिखानेवाला शास्त्र सबका नेत्र है, वह जिसे नहीं है, वह मनुष्य अन्धा ही है। जवानी, धन, प्रभुता और अविचार—इनमेंसे एक एक भी अनर्थ करनेवाले हैं और जिसके पास चारों हैं, उसका क्या कहना।' यह सुनकर अपने पुत्रोंके मूर्ख और कुमार्गगामी होनेसे राजा सोचने लगे—'जिनका पुत्र विद्वान्, गुणी, धर्मात्मा और वशमें रहनेवाला नहीं है, उसका होना व्यर्थ है। सो इन पुत्रोंको किस तरह गुणी बनाऊँ!' यह सोच पण्डितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने अपने पुत्रोंको पढ़ानेके लिये कहा। उन पण्डितोंमेंसे विष्णुशर्मा बोले, कि मैं इन पुत्रोंको छः मासमें पढ़ाकर विद्वान् बना दूँगा। यह सुनकर प्रसन्नचित्त राजाने उन पुत्रोंको पढ़ानेके लिये विष्णुशर्माको सौंप दिया।

चित्रग्रीव (कबूतर) यथा हिरण्यक (चूहे) की कथा (पृ. २७)

एक दिन किसी व्याधने वनमें चावलके दानोंको छींटकर जाल फैला दिया था। आकाशमें उड़ते हुए कबूतरोंने जब उसे देख उन चावलोंको खाना चाहा, तब कबूतरोंके राजा चित्रग्रीवने कबूतरोंको बहुत समझाया कि इस जंगलमें इतने चावल कहाँसे आये, इन्हें खानेका लोभ मत करो, क्योंकि—'लोभात् क्रोधः प्रभवति…' इत्यादि नीतिकार कहते हैं। किन्तु कबूतरोंने उसकी बात नहीं मानी और वे चावल खानेके लिये वहाँ उतरते ही जालमें फँस गये। तब चित्रग्रीवने कहा—'इसमें किसीका दोष नहीं है, अभाग्यवश आपत्ति आती है, आपत्ति में धैर्य रखकर उससे छूटनेका उपाय सोचना चाहिए। जैसे 'विपदि धैर्यम्…'। इस कारण तुम लोग एक राय करके जालके साथ उड़ चलो।' यह सुन सब कबूतर जालको लेकर उड़ गये और गण्डकी नदीके किनारे सैकड़ों मुँहवाले बिलमें रहनेवाले 'हिरण्यक' नामक चूहेके पास पहुँचे। वह चूहा चित्रग्रीवका परम मित्र था। चित्रग्रीवके बुलानेपर बाहर आकर उस चूहेने चित्रग्रीवको जालमें फँसा देख आश्चर्यसे पूछा—'मित्र! यह क्या!' उसने उत्तर दिया—

'मेरे पूर्व जन्मका यह फल है, जैसे कहा भी है—'रोगशोकपरीताप···' । यह सुन हिरण्यक चित्रग्रीवके जालको काटनेके लिए उसके पास पहुँचा तो चित्रग्रीव-ने कहा—'पहले इन मेरे आश्रितोंका बन्धन काटो, क्योंकि ये जाति, क्रिया और गुणमें मेरे बराबर होनेपर भी बिना वेतनके मेरा आश्रय नहीं छोड़ते, अतः मेरे क्षणभङ्गुर शरीरकी चिन्ता छोड़कर स्थायी यशके लिए इनका बन्धन पहले काटो ।' यह सुन प्रसन्न होकर हिरण्यकने पहले अन्य कबूतरोंके बन्धनको काटकर पश्चात् चित्रग्रीवका बन्धन काटा ।

बूढ़े बाघ और लोभी पथिककी कथा (पृ० ३०)

एक बूढ़ा बाघ तालाबके किनारे स्नानकर कुश, जल और सोनेका कंकण लिये जोरसे कह रहा था—'इस सुवर्णके कंकणका कोई दान ले' । यह सुन एक लोभी पथिकने बाघसे पूछा—'कहाँ है तेरा कंकण ! तुझ जैसे हिंसकपर किस प्रकार विश्वास किया जाय; हाथ फैलाकर सुवर्णकंकणको दिखाते हुए बाघने कहा—'पहले मैं बहुत क्रूर था, अनेक गौ-ब्राह्मणादिके मारनेसे मेरे पुत्र-स्त्री सब मर गये और मेरे दाँत-नाखून सब गिर पड़े । एक महात्माके उपदेशसे मैं स्नान कर इस सुवर्ण कंकणको किसीको देना चाहता हूँ, किन्तु 'बाघ मनुष्यको खाता है', यह निन्दा किस प्रकार दूर की जाय ?—क्योंकि 'गतानुगतिको लोक···' ऐसा नीतिज्ञ लोग कहते हैं । दरिद्र तथा अपना कोई उपकारी नहीं होनेसे यह सात्त्विक दान मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अतः इस तालाबमें स्नानकर इस कंकणको लो' । यह सुन वह पथिक उसकी बातोंपर विश्वासकर तालाबमें स्नानार्थ प्रवेश करते ही कीचड़में फँसकर चिन्ता करने लगा—'हाय ! नदीनां शस्त्रपाणीनां···' इत्यादि नीतिकारोंके वचनोंके विपरीत मैंने विश्वासकर अच्छा नहीं किया, विद्वान् होनेपर भी किसीका स्वभाव नहीं बदलता । जैसे कहा भी है—'न धर्मशास्त्रं पठतीति···' ऐसा विचार कर ही रहा था कि वह बाघ उसे मारकर खा गया ।

चित्राङ्ग (मृग), सुबुद्धि (कौआ) तथा स्यारकी कथा (पृ. ६१)

'मगध' देशमें 'चम्पकावती' नामक बड़ा बन था, उसमें मृग और कौवा बड़ी दोस्तीसे रहते थे । एक दिन मृग-मांसलोभी धूर्त स्यार मित्रता करनेके बहाने मृगके निवासस्थानपर गया । स्यार और मृगको एक साथ देखकर 'सुबुद्धि' नामक कौवा बोला—'यह कौन है तथा यहाँ क्यों आया है ? अज्ञात कुलाचार वाले व्यकि पर विश्वास नहीं करना चाहिए ।' कौवेकी इस बातको सुनकर स्यार बोला—'भाई ! 'यह मेरा है, यह तुम्हारा है' यह विचार तो क्षुद्र बुद्धिवाले ही

करते हैं, उदार हृदयवालोंका तो प्राणिमात्र परिवार ही होता है।' इस प्रकार विश्वास दिलाकर यह स्यार भी वहाँ रहने लगा और उस धूर्त स्यारके दिखानेपर मृग प्रतिदिन एक खेतमें जाकर चरने लगा। यह देख किसानने जब खेतमें जाल फैला दिया तब एक दिन उसमें वेचारा मृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब इस मृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई उसकी हड्डियाँ खानेको मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर मृगने कहा—'मित्र! शीघ्र मेरे बन्धनको काटो'। यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र! आज रविवारका दिन है, चर्बीसे बने इस फन्देको दाँतोंसे कैसे स्पर्श करूँ; मैं इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कहकर थोड़ी दूरपर छिपकर बैठ गया। इधर प्रतिदिनके समान संध्या होनेपर मृगके निवासस्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घवड़ाकर मृगको ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने मृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र! यह क्या?' उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग मृगने कहा–'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातःकाल लाठी लिये किसानको आते देख कौवेने मृगसे कहा—'तुम हाथ पैर फैला-कर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे-धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा फिर मैं जब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना।' इतनेमें किसान वहाँ आकर मृगके ऊपर बैठे हुए कौवेको देख उसे मरा हुआ समझकर फन्देको समेटने लगा। इतनेमें कौवेके शब्दको सुनकर जब मृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेंकी जिससे पासमें बैठकर झाँकता हुआ मृगमांस-लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (बिलाव) की कथा (पृ. ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकरका पेड़ था। उसके खोंड़रेमें जरद्गव नामका एक वृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने-अपने भोजनसे थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चोंकी रखवाली करता था। एक दिन बिलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी बिलाव डर गया और कहने लगा—'मैं दीर्घकर्ण नामक बिलाव सर्वदा गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास जाकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं, इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आदर सत्कार करना चाहिए'। इस प्रकार गीधको

विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोंड़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके बच्चोंको अपने खोंड़रेमें लाकर खाने लगा। जिन-जिनके बच्चोंको बिलावने खा लिया, वे इधर-उधर अपने बच्चोंको ढूँढने लगे, यह जान बिलाव तो धीरेसे भाग गया और उसके खोंड़रेमें पड़ी हड्डियोंको देख 'गीधने मेरे बच्चोंको खाया है' ऐसा निश्चयकर पक्षियोंने उस वृद्ध गीधको मार डाला। इसीलिए कहा है—'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि।

चूडाकर्ण तथा वीणाकर्ण संन्यासियोंकी कथा (पृ. ९९)

चम्पक नगरीमें संन्यासियोंके एक आश्रममें 'वीणाकर्ण' नामका संन्यासी रहता था। वह खानेसे बचे हुए भिक्षान्नको खूँटीमें टाँगकर जब सो जाता था तब 'हिरण्यक' नामक चूहेका राजा उसे प्रतिदिन खा जाता था। एक दिन उसने मित्र 'चूडाकर्ण' नामक संन्यासीके आनेपर बातचीत करते हुए एक-फटे हुए बाँसके टुकड़ेको लेकर चूहेको डरानेके लिए भूमिपर पटका, यह देख चूडाकर्णने कहा—'मित्र मेरे साथ बात करनेमें तुम्हारा मन क्यों नहीं लग रहा है?' चूडाकर्णने उत्तर दिया—'मेरा मन बात करनेमें तो लग रहा है, किन्तु यह दुष्ट चूहा मेरे भिक्षान्नको कूदकर प्रतिदिन खा जाता है उसीको भगानेके लिए मैंने बाँस पटका है।' खूँटीकी ऊँचाई देखकर वीणाकर्णने कहा—'छोटा-सा चूहा इतना ऊँचा कूदता है, इससे यह मालूम होता है कि इसने बहुत-सा अन्न आदि इकट्ठा कर लिया है, इसी एकत्रित धनके अभिमानसे यह इतना कूद रहा है।' यह कहकर उसने चूहेके बिलको खोदा और बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ सब धन ले लिया। एक दिन शक्तिहीन चूहेको धीरे-धीरे चलते हुए देखकर वीणाकर्णने कहा—'मित्र चूडाकर्ण! धनहीन इस चूहेको देखो कि कितना धीरे-धीरे चल रहा है। नीति भी कहती है—'धनेन बलवांल्लोके····' इत्यादि।

भैरव (व्याध) तथा लोभी स्यारकी कथा (पृ० ११९)

'कल्याणकट' नामक देशमें 'भैरव' नामक व्याध रहता था। उसने एक दिन बाणसे एक मृगको मारकर घर लौटते समय एक बड़े सूअरको देखा। फिर उसने मारे हुए मृगको भूमिपर रखकर जैसे ही बाणसे उसे भी मारा वैसे ही बाण लगनेसे क्रुद्ध वह सूअर दौड़कर भैरव व्याधके अण्डकोशमें दाँतसे प्रहार कर बैठा जिससे वह उसी समय गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर एक सर्प भी मर गया। इधर बाणकी पीड़ासे व्याकुल होकर सूअर भी मर गया। इतनेमें ही कहींसे घूमता हुआ एक लोभी स्यार आया और मरे हुए मृग, व्याध, सूअर, सर्प तथा व्याधके धनुषको देखकर विचारने

विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोंढ़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके बच्चोंको अपने खोंढ़रेमें लाकर खाने लगा। जिन-जिनके बच्चोंको बिलावने खा लिया, वे इधर-उधर अपने बच्चोंको ढूँढने लगे, यह जान बिलाव तो धीरेसे भाग गया और उसके खोंढ़रेमें पड़ी हड्डियोंको देख 'गीधने मेरे बच्चोंको खाया है' ऐसा निश्चयकर पक्षियोंने उस वृद्ध गीधको मार डाला। इसीलिए कहा है—'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि।

चूडाकर्ण तथा वीणाकर्ण संन्यासियोंकी कथा (पृ. ९९)

चम्पक नगरीमें संन्यासियोंके एक आश्रममें 'वीणाकर्ण' नामका संन्यासी रहता था। वह खानेसे बचे हुए भिक्षान्नको खूँटीमें टाँगकर जब सो जाता था तब 'हिरण्यक' नामक चूहेका राजा उसे प्रतिदिन खा जाता था। एक दिन उसने मित्र 'चूडाकर्ण' नामक संन्यासीके आनेपर बातचीत करते हुए एक-फटे हुए बाँसके टुकड़ेको लेकर चूहेको डरानेके लिए भूमिपर पटका, यह देख चूडाकर्णने कहा—'मित्र मेरे साथ बात करनेमें तुम्हारा मन क्यों नहीं लग रहा है?' चूडाकर्णने उत्तर दिया—'मेरा मन बात करनेमें तो लग रहा है, किन्तु यह दुष्ट चूहा मेरे भिक्षान्नको कूदकर प्रतिदिन खा जाता है उसीको भगानेके लिए मैंने बाँस पटका है।' खूँटीकी ऊँचाई देखकर वीणाकर्णने कहा—'छोटा-सा चूहा इतना ऊँचा कूदता है, इससे यह मालूम होता है कि इसने बहुत-सा अन्न आदि इकट्ठा कर लिया है, इसी एकत्रित धनके अभिमानसे यह इतना कूद रहा है।' यह कहकर उसने चूहेके बिलको खोदा और बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ सब धन ले लिया। एक दिन शक्तिहीन चूहेको धीरे-धीरे चलते हुए देखकर वीणाकर्णने कहा—'मित्र चूडाकर्ण! धनहीन इस चूहेको देखो कि कितना धीरे-धीरे चल रहा है। नीति भी कहती है—'धनेन बलवांल्लोके····' इत्यादि।

भैरव (व्याध) तथा लोभी स्यारकी कथा (पृ० ११९)

'कल्याणकट' नामक देशमें 'भैरव' नामक व्याध रहता था। उसने एक दिन बाणसे एक मृगको मारकर घर लौटते समय एक बड़े सूअरको देखा। फिर उसने मारे हुए मृगको भूमिपर रखकर जैसे ही बाणसे उसे भी मारा वैसे ही बाण लगनेसे क्रुद्ध वह सूअर दौड़कर भैरव व्याधके अण्डकोशमें दाँतसे प्रहार कर बैठा जिससे वह उसी समय गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर एक सर्प भी मर गया। इधर बाणकी पीड़ासे व्याकुल होकर सूअर भी मर गया। इतनेमें ही कहींसे घूमता हुआ एक लोभी स्यार आया और मरे हुए मृग, व्याध, सूअर, सर्प तथा व्याधके धनुषको देखकर विचारने

लगा—'भगवान्‌ने आज मुझे बहुत दिनोंके लिए भोजन दे दिया। इनमें १-१ महीने मृग, सूकर, व्याध तथा १ दिन सर्पको खाऊँगा और आज तेज भूखमें स्वादहीन धनुषकी डोरीको ही खा लेता हूँ।' ऐसा निश्चयकर उसने धनुषकी डोरीको खानेके लिए जो काटा तो बढ़ा हुआ धनुष उछलकर उसके पेटमें लगा और वह भी वहीं मर गया। इसीलिए नीतिकारोंने कहा है—'सञ्चय तो करना चाहिए, किन्तु अधिक सञ्चय नहीं करना चाहिए।'

कर्पूरतिलक हाथी तथा स्यारकी कथा (पृ० १३६)

'ब्रह्मारण्य'में 'कर्पूरतिलक' नामका एक हाथी रहता था। उसे देखकर स्यारोंने विचारा—'यदि यह किसी उपायसे मर जाय तो हम लोगोंका इच्छानुसार चार मासका भोजन होगा'। यह सुन एक स्यारने कहा—'मैं अपनी बुद्धिसे इसे मारूँगा' ऐसा कहकर वह कर्पूरतिलक हाथीके पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—'सरकार! जङ्गलके रहनेवाले सब पशुओंने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है—विना राजाके रहना अच्छा नहीं और इस समय राजा होने लायक आप ही हैं, सो जब तक राज्याभिषेकके शुभ मुहूर्तका समय नहीं बीत रहा है तब तक ही कृपाकर आप जल्दी चलिए'। राज्यके लोभमें पड़ा हुआ वह कर्पूरतिलक हाथी स्यारके कहनेमें आकर उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ ही दूर आगे जानेपर महा दलदलमें फँसकर वह बोला—'मित्र स्यार! मैं तो दलदलमें फँस गया, अब क्या करूँ'? यह सुनकर स्यारने कहा—'मेरे-जैसे नीचका विश्वास करनेका फल भोगो'। इसीसे नीतिकारोंने कहा है—'जो काम उपायसे होता है, वह पराक्रमसे नहीं।'

लघुपतनक (कौवा), हिरण्यक (चूहा), मन्थरक (कछुआ) और चित्रांगद (मृग) की कथा (पृ० १४०)

चित्रग्रीव और हिरण्यककी मित्रताको देखकर लघुपतनक नामक कौवेने कहा—'हिरण्यक! मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।' यह सुन हिरण्यकने कहा—'तुम मेरे भक्षक हो और मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ, अतः हम दोनोंसे मित्रता कैसे हो सकती है? शत्रुके साथ एकभाव होनेपर भी मेल नहीं करना चाहिए, क्योंकि बहुत गर्म भी पानी आगको बुझा देता है।' इस प्रकार अस्वीकार करने पर लघुपतनकने कहा—'यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं भोजन त्यागकर यहीं प्राण दे दूँगा, क्योंकि तुम सज्जन हो और सज्जनोंकी मित्रता बड़े भाग्यसे होती है।' उसके ऐसे दृढ़ निश्चयको सुनकर हिरण्यकने लघुपतनकसे मित्रताकर ली। एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—'मित्र! यहाँ लोग पशु पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं, इस कारण दण्डकवनके कर्पूरगौर नामक तालाबमें रहनेवाले

अपने पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुएके पासमें जाना चाहता हूँ। वहाँ मुझे यथेच्छ भोजन मिलेगा। यह सुन हिरण्यकने कहा—'मित्र मै तुम्हारे जैसे मित्रके बिना कैसे रहूँगा, इससे मुझे भी वहाँ ले चलो।' यह सुन लघुपतनक उसे अपनी पीठपर बैठाकर उड़ता हुआ अपने मित्र मन्थरकके पास पहुँचा। वहाँ मन्थरक लघुपतनकसे हिरण्यकका परिचय पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने हिरण्यकका भी अच्छी तरह आतिथ्य किया। भोजन आदिसे निश्चिन्त होकर तीनों एक साथ बैठे तो मन्थरकने हिरण्यकसे पूछा—'मित्र हिरण्यक! अपने देशको छोड़कर इस निर्जन वनमें आप क्यों आये?' यह सुन हिरण्यकने कहा—'धनरहित होकर परिवारमें रहनेसे बड़ा अपमान सहना पड़ता है, निर्धन मनुष्य जंगलमें चला जाय, देश छोड़ दे, परन्तु परिवार में रहकर अपमान न सहे। कहा भी है—'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितम्…'। यही विचारकर मैं यहाँ आया हूँ।' यह सुन मन्थरकने कहा—'मित्र! प्राणीको तृष्णा छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि जितनी तृष्णा की जायगी, वह उतनी ही बढ़ती जायगी। सन्तोष धारण करनेके समान संसारमें दूसरा कोई सुख नहीं है।' इतनेहीमें भागता हुआ एक मृग आकर कहने लगा—'कलिंग देशका राजा 'रुक्माङ्गद' दिग्विजयके लिए निकला है। उसकी सेना चन्द्रभागा नदीके किनारे पड़ाव डालकर पड़ी है, उसके साथ रहनेवाले शिकारियोंसे डरकर मैं यहाँ आपकी शरणमें आया हूँ। दो-तीन दिनमें यहाँ भी वे आनेवाले हैं, ऐसा मैंने सुना है।' यह सुन मन्थरक भयके मारे वहाँसे चल पड़ा और दूसरे तालाबमें स्थलमार्गसे जाते हुए उसे एक व्याधने पकड़ लिया। यह देख हिरण्यकने कहा—'हे चित्राङ्गद! तुम इस व्याधके मार्गमें आगे एक पानी वाले गढ़ेके पास पेट फुलाकर तथा पैरोंको फैलाकर लेट जाओ और लघुपतनक तुम्हारे मुखपर बैठकर आँखोंमें धीरे-धीरे चोंचसे खोदता रहे, जिससे यह व्याध तुम्हें मरा हुआ जानकर मन्थरकको गढ़ेके किनारे रखकर तुम्हें लानेके लिए जायगा, इतनेमें मैं मन्थरकके फन्देको काट दूँगा और वह शीघ्र पानीमें घुस जायगा तथा तुम भी व्याधको पासमें आते देख झट उठकर भाग जाना।' यह उपाय इन दोनोंको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने ऐसा ही किया जिसे देख व्याध मृगको मरा हुआ समझकर कुशाकी रस्सीसे बाँधे हुए मन्थरकको गढ़ेके किनारे रखकर मृगको लानेके लिए गया। उधर व्याधको पासमें आता देख कौवा उड़ गया और मृग भाग गया; फिर वापस लौटकर बन्धनसे भागे हुए मन्थरकको देखकर वह व्याध सोच करने लगा—'जो निश्चितको छोड़कर अनिश्चितके लिए दौड़ता है, उसकी दशा मेरी-जैसी ही होती है।' इस प्रकार शोक करता हुआ वह घर चला गया। इधर सब मित्र (मन्थरक, हिरण्यक, चित्राङ्गद तथा लघुपतनक) फिर मिलकर सुखपूर्वक रहने लगे।

—: ० :—

॥ श्रीः ॥

हितोपदेश-मित्रलाभः

किरणावली-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



मङ्गलाचरणम्

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ।

तर्कश्रुतिभिरावेद्यमक्षरात् परतः परम् ।
परं ब्रह्म नमस्कृत्य 'स्वामिनारायणं' प्रभुम् ॥
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः' करोति 'किरणावलीम्' ।
व्याख्यां शिशुहितां रम्यां 'मित्रलाभ'नयानुगाम् ॥

अन्वयः—यन्मूर्ध्नि शशिनः कला जाह्नवीफेनलेखा इव (अस्ति), तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धिः अस्तु ॥ व्याख्या—यस्य मूर्धा यन्मूर्धा, तस्मिन् । यस्य = शङ्करस्य मूर्ध्नि = ललाटे । शशिनः—शशः अङ्करूपोऽस्ति अस्येति शशी, तस्य—शशिनः = चन्द्रस्येत्यर्थः । कला = षोडशो भागः, 'कला तु षोडशो भाग' इत्यमरः । जाह्नवीफेनलेखेव = जह्नोः अपत्यं कन्या जाह्नवी = गङ्गेत्यर्थः । जाह्नव्याः फेनः = डिण्डीरः, 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः, जाह्नवीफेनस्य लेखा=चिह्नमिव, विराजते-इति शेषः । तस्य धूजटेः-धूः=भारभूता जटिः=जटा यस्य सः तस्य= शङ्करस्य, प्रसादात् = अनुग्रहात् । सतां=सज्जनानां विद्यार्थिनाम् , साध्ये = साधितुं योग्ये स्वाभिलषिते एतद्ग्रन्थाऽध्ययनात्मके कार्ये, सिद्धिरस्तु=पारगामित्वं भवतु ।

भाषान्तरम्—जिन शङ्करजी के ललाटमें चन्द्रकी एक कला गङ्गाजी के फेन (गाज) की रेखा के समान सुशोभित है, उन शङ्करजीकी प्रसन्नतासे सब सत्पुरुषों के कार्यों की निर्विघ्न सिद्धि हो ॥ १ ॥

ग्रन्थस्योपादेयतां दर्शयति—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

अ०—श्रुतः अयं हितोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाटवम् , सर्वत्र वाचां वैचित्र्यम् , नीतिविद्यां च ददाति ॥ व्या०—श्रुतः = अधीतः,—गुरुमुखात् श्रावणप्रत्यक्षविषयीकृत इति यावत् , अयम्—एष बुद्धिस्थः, हितोपदेशः—हितः = हितकरः उपदेशो यस्मात् , तादृशः 'हितोपदेश'नामा ग्रन्थः (इदं कर्तृपदम्), संस्कृतोक्तिषु—संस्कृतस्य = संस्कृतभाषायाः, उक्तयः = भाषणानि तासु—इत्यर्थः । पाटवम् = पटोर्भावः पाटवम् = चतुरताम् (ददाति), सर्वत्र = यावति शब्दप्रयोगात्मके व्यवहारे, वाचाम् = गिराम् 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः । वैचित्र्यम् = नवनवार्थशालित्वम् (ददाति), नीतिविद्यां च = नीयते लभ्यते स्वेप्सितम् अनया इति नीतिः=सामदानभेददण्डेत्युपायचतुष्टयप्रयोगः, विद्या=वेदनं ज्ञानम्, नीत्याः विद्या नीतिविद्या=नीतिशास्त्रज्ञानं ताम्, सामदानादिप्रयोगज्ञानं ददातीत्यर्थः ॥

भा०—इस हितोपदेशका अध्ययन करनेसे संस्कृत भाषामें व्युत्पत्ति, सभी प्रकारके शब्दप्रयोगात्मक व्यवहारों में निपुणता तथा नीति का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विद्याप्रशंसा

अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

अ०—प्राज्ञः अजराऽमरवत् विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत् । मृत्युना केशेषु गृहीत इव धर्ममाचरेत् ॥ व्या०—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव इति प्राज्ञः, स्वार्थे अण् , धीमान् मनुष्य इत्यर्थः । न विद्यते जरा यस्य सः, अथवा न जीर्यते इत्यजरः, न म्रियते इत्यमरः, अजरश्चासौ अमरश्चेति अजराऽमरः, स इव=तेन तुल्यम्=इत्यजराऽमरवत् = जरामरणरहित इवेत्यर्थः । विद्याम् = शास्त्रज्ञानकलाज्ञानादिकम् , अर्थं च = द्रव्यं च, चिन्तयेत्–उपार्जयेत् । मृत्युना = अन्तकेन, केशेषु = शिरोरुहेषु, गृहीत इव = धृत इव धर्मं = पुण्यम् । आचरेत् = अनुतिष्ठेत् ॥

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या तथा द्रव्य (धन) का उपार्जन करे और मृत्यु हमको ले जाने के लिये हमारे शिर के केश (चोटी) पकड़े हुए है, ऐसा समझ कर सदा धर्माचरण करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

अ०—(तत्त्वज्ञाः) सर्वदा अहार्यत्वात् अनर्घत्वात् अक्षयत्वाच्च सर्वद्रव्येषु विद्यैव अनुत्तमं द्रव्यम् अस्तीति आहुः॥ व्या०—(तत्त्ववेत्तारः सत्याऽसत्यविवेचकाः) सर्वदा = सर्वकालम् , अहार्यत्वात् = हर्तुं योग्या हार्या, हार्या न भवतीति अहार्या, तस्या भावः = अहार्यत्वम्, तस्मात् अहार्यत्वात् = चौरादिभिरपहर्तुम् अयोग्यत्वा-

दित्यर्थः । अनर्घत्वात्=नास्ति अर्घो मूल्यं यस्याः सा अनर्घा=अमूल्या, तस्या भावः अनर्घत्वम्, तस्मात्, अनर्घत्वात्, द्रव्यादिमूल्येनाऽपि प्राप्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। अक्षयत्वात्=नास्ति क्षयः=नाशः स्थूलपदार्थवत् क्लेदनदहनपरिणामाद्यात्मकः शीघ्रं विनाशो यस्याः सा इति अक्षया, तस्या भावस्तस्मात्। व्यये कृते वृद्धिशीलत्वादिति यावत्। सर्वद्रव्येषु=सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि=सुवर्णरजताद्यात्मकानि रत्नाद्यात्मकानि अन्यानि च यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि, तेषु मध्ये विद्या एव, अनुत्तमम्=उत्कृष्टं पराकाष्ठां गतम्, द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः=वदन्तीति। अत्र श्लोके-अनुमानत्रयम्=हेतुत्रयेण बोध्यम्।

भा०—विद्वान् लोग सब धनों में से विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर लोग उसकी चोरी नहीं कर सकते हैं, और मूल्य देने पर भी वह खरीदी नहीं जा सकती है, और दूसरे को देने (पढ़ाने) से कमती नहीं होती है, किन्तु बढ़ती ही रहती है, इसलिये श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव, नीचगाऽपि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

अ०—नीचगा अपि सरित् दुर्धर्षं समुद्रमिव (नीचगाऽपि) विद्या एव नरं नृपं संयोजयति, अतः (विद्या) परम् भाग्यं (उद्घाटयति)। व्या०—नीचगाऽपि=निम्नप्रदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्धर्षम्=दुःखेन धृष्यते आक्रम्यते इति दुर्धर्षः तम्, दुरतिक्रमम् दुष्प्रापमिति यावत्, समुद्रम्-मुद्राभिः=रत्नैः सहितः समुद्रः, तम्=अर्णवम्, इव=यथा (संयोजयति) तथा (नीचगाऽपि) नीचं कुलस्वभावादिनाऽपकृष्टमपि पुरुषं गच्छतीति नीचगा, नीचैरधीता सत्यपीत्यर्थः नरं=जातिकुलाद्यपकृष्टं जनम्, विद्या एव दुर्धर्षं=दुष्प्रापम्, नृपम्=नॄन् पातीति नृपः, लोकरक्षको राजा, तम्, संयोजयति=सङ्गमयतीत्यर्थः, प्रापयतीति यावत् अतः परम्=इत ऊर्ध्वं, भाग्यम्=दैवाधीनम् फलम्।

भा०—जैसे नीचे प्रदेश में बहने वाली नदी तुच्छ तृणकाष्ठादिकको दुष्प्राप्य अथाह समुद्र में जा मिलाती है वैसे ही नीच पुरुषको प्राप्त होकर विद्या ही उस पुरुष को बड़े भारी राजा से मिलाती है। उसके बाद वह भाग्यानुसार फल पाता है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

अ०—विद्या विनयं ददाति, विनयात् पात्रतां याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मं (करोति), ततः सुखम् (आप्नोति)। व्या०—विद्या विनयं=नम्रताम्, ददाति (जनायेति शेषः), विद्यायुक्तः नम्रो भवतीति भावः। विनयात्=नम्रत्वात् (हेत्वर्थे पञ्चमी, एवमग्रेऽपि) पात्रतां=सत्पात्रत्वम्, याति=प्राप्नोति,

(विनयवान् जन इति शेषः) पात्रत्वात् = सत्पात्रत्वात्, दानादिसमर्पणयोग्यत्वात् विश्वासपात्रत्वाद्वा, धनम् = सुवर्णरजताद्यात्मकम् अर्थम् आप्नोति, विश्वासकार्ये नियुक्तः सन् कार्यपरिसमाप्त्या प्रसादितात् स्वामिनः विपुलं धनं लभते इति भावः। धनात् = नीतिसम्पादितात् धनात्, धर्मम् = यागदानादिद्वारा पुण्यम्, अर्जयति—इति शेषः। ततः = तस्मात् पुण्यात्, सुखम् = स्त्री-पुत्र-समृद्धि-प्रतिष्ठाऽऽरोग्यादिभिः सर्वदा आनन्दम्, अनुभवतीति शेषः।

भा०—मनुष्य विद्या को पढ़ने से विनयवान् बनता है, विनयवान् होने से ही वह सुपात्र कहाता है, सुपात्र होने से वह धन को प्राप्त करता है, धन से धर्मकार्य—यज्ञदानादि करके पुण्यशाली बनता है, पुण्यशाली होने से सांसारिक स्त्री, पुत्र, समृद्धि, लोकप्रतिष्ठा आदि से सदा सुखी रहता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

अ०—शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च विद्या (भवति); द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (भवतः) आद्या वृद्धत्वे हास्याय (भवति); (अतः) द्वितीया सदा आद्रियते। व्या०—शस्त्रम् = खड्गादिकं परेभ्यः स्वरक्षणसाधनम्; शास्त्रम् = विधिनिषेधादिना लोकशासनाय आप्तविरचितवाक्यसमूहश्चेति द्वयं विद्या भवति; कारणे कार्योपचारात् विद्यासाधनयोरपि द्वयोर्विद्याप्रयोगः। एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये = स्वेष्टकार्यसिद्धयै, भवतः। तयोर्मध्ये या आद्या = शस्त्रात्मिका विद्या, सा तु वृद्धत्वे = वार्धक्ये सति, दुर्बलावस्थायां सामर्थ्याऽपगमे सतीति भावः, हास्याय = उपहासाय भवति, अत एव द्वितीया (या) = शास्त्रविद्या सा तु सदा = सर्वदा, बाल्ये यौवने प्रौढे वार्धक्येऽपि चेत्यर्थः। आद्रियते = लोकैः प्रशस्यते—आदृता भवतीति भावः। (अत्र श्लोके—'विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्येति' पाठान्तरम्)।

भा०—संसार में दो विद्यायें प्रसिद्ध हैं, एक शस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या; उन दोनों को पढ़ने से मनुष्यको इष्टसिद्धि होती है, किन्तु निर्बल (वृद्धादि) अवस्था में शस्त्रविद्या से अपना रक्षण तथा विजयादि नहीं कर सकते हैं, इसलिये शस्त्रविद्या हँसी कराती है, शास्त्रविद्या तो सबल-निर्बल सभी अवस्थाओं में सुख देनेवाली है, इसलिये द्वितीय विद्या-शास्त्र विद्या ही प्रशंसित है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

अ०—यत् नवे भाजने लग्नः संस्कारः अन्यथा न भवेत्; तत् इह कथाच्छलेन बालानां नीतिः कथ्यते। व्या०—यत् = यस्माद्धेतोः, (यथा) नवे = नूतने = अपक्वे, भाजने = मृत्पात्रादौ, लग्नः = अङ्कितः, संस्कारः = रेखादिचिह्नम्, अन्यथा = अन्य-

प्रकाशो विलीनो वा न भवेत् (तथा) यत् = यस्माद्धेतोः, नवे = नूतने विद्यासंस्काररहिते, भाजने = विद्यापात्ररूपे बालान्तःकरणे, लग्नः=सङ्क्रान्तः, संस्कारः = विद्यासंस्कारः, अन्यथा = विपरीतो न भवेत्। तत्=तस्माद्धेतोः, इह = अस्मिन् ग्रन्थे, कथाच्छलेन—कथा = काककूर्मादीनां कल्पितोपाख्यानम्, तदेव छलं तेन, बालानाम् = प्रथमं संस्कृतभाषायां प्रवेशाऽभिलाषुकाणाम् (बोधार्थमिति शेषः) कथ्यते = उपदिश्यते । मया विष्णुशर्म्मणेति शेषः ।

भा०—बालकों का हृदय मृत्तिका के नये घट के समान निर्मल होता है, इसलिये नये घटादि में खींचे हुए रेखा आदि के चिह्न—बरतन फूटने तक नहीं जाते, वैसे ही बालकों के निर्मल अन्तःकरणों में उपदेश द्वारा किये गये शुभ संस्कार भी जीवन पर्यन्त दूर नहीं होते, इसलिये मैं (विष्णुशर्मा) बालकों को मनोरञ्जक नीतियुक्त कथाएँ कहकर उपदेश देने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अ०—(मया) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् आकृष्य मित्रलाभः, सुहृद्भेदः, विग्रहः, सन्धिः, एव च लिख्यते । व्या०—मया (विष्णुशर्मणा) पञ्चतन्त्रात् = 'पञ्चतन्त्र'नामकग्रन्थात्, तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् = महाभारत-कामन्दकीयादेः नीतिशास्त्रान्तरात्, आकृष्य = समाहृत्य सङ्गृह्य च, मित्रलाभः = मित्रस्य लाभः प्राप्तिः, सुहृद्भेदः = सुहृदो भेदः = वैमनस्यम्, विग्रहः = युद्धम्, सन्धिः = मेलनं चेति लिख्यते एवेति ।

भा०—मैं नीति के प्रतिपादक पञ्चतन्त्र तथा महाभारतादि ग्रन्थों से बालकों का हित करने वाली कथायें एकत्रित करके मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, इन चार प्रकरणों में पर्यवसित ऐसा यह 'हितोपदेश' नाम का ग्रन्थ लिखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनाऽपि पाठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव ।

व्या०—भागीरथीतीरे = 'भगीरथ'नाम्ना राजकुमारेण आनीता या गङ्गा सा भागीरथी, तस्याः तीरे तटे, पाटलिपुत्रनामधेयम् = नाम एव इति नामधेयम्, 'पाटलिपुत्र' इति (पटना) नामधेयं यस्य तत् 'पाटलिपुत्र'नामकं, नगरं = पुरम् अस्ति = वर्तते । तत्र = तस्मिन्निति तत्र=पाटलिपुत्रनगरे, सर्वस्वामिगुणोपेतः=स्वम् ऐश्वर्यं प्रजेशनशीलत्वरूपम् अस्ति अस्य इति स्वामी = राजा, स्वामिनो गुणाः =

शौर्यादयः, सर्वे च ते स्वामिगुणाः सर्वस्वामिगुणाः तैः उपेतः = युक्तः, सुदर्शनो नाम = सुष्ठु सुखकरं दर्शनं यस्य सः सुदर्शनः, 'सुदर्शन'नामा, नरपतिः = पाति रक्षतीति पतिः, नराणां पतिः नरपतिः = राजा, आसीत् = बभूव। स भूपतिः = असौ 'सुदर्शन'नामा भूपतिः, भुवः पतिः भूपतिरिति विग्रहः। एकदा = एकस्मिन् काले, केनाऽपि = व्यक्तिविशेषेण विदुषा, पठ्यमानम् = पठ्यते तत् पठ्यमानम् श्लोकयोः द्वयम्–श्लोकद्वयम् 'अनेके'–त्यादिरूपं वक्ष्यमाणं पद्यद्वयम्, शुश्राव = आकर्णितवान्।

भा०—श्रीभागीरथी गङ्गाके तीर पर'पाटलिपुत्र' (पटना) नाम का एक नगर है, उस नगर का राजा 'सुदर्शन' नाम का था, वह राजाओं के सब गुणों से युक्त था, उस राजाने एक समय किसी द्वारा पढ़े जाते हुए इन दो श्लोकों को सुना (जो आगे कहे जा रहे हैं।)

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ १०॥

व्या०—सर्वस्य = निखिलजनस्य, अनेकसंशयोच्छेदि, न एके = अनेके, अनेके च ते संशयाः अनेकसंशयाः। अनेकसंशयानाम् उच्छेदि, इत्यनेकसंशयोच्छेदि = बहुविधधार्मिक–राजनीतिक–सामाजिकैतिहासिक–संशयनिरासकमित्यर्थः। परोक्षार्थस्य = अक्षाणाम्—इन्द्रियाणां परः इति परोक्षः परोक्षश्चासौ अर्थश्चेति परोक्षार्थः तस्य परोक्षार्थस्य = भूतभविष्यत्सूक्ष्मपदार्थस्येत्यर्थः। दर्शकम् = प्रत्यक्षमिव यथार्थज्ञानजनकम्, शास्त्रम् (एव) द्वितीयं दिव्यं लोचनं = नेत्रं भवतीति हेतोः यस्य जनस्य तत् दिव्यलोचनात्मकं शास्त्रम् नास्ति, सः अन्ध एव।

भा०—सब मनुष्यों को स्थूल दोनों नेत्रों से अलग दिव्य नेत्र शास्त्र ही होता है, क्योंकि शास्त्र से ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संशय दूर होते हैं, भविष्य में होने वाले हानि-लाभ भी शास्त्र से ही विदित होते हैं, इसलिये ऐसा शास्त्र जिसने नहीं पढ़ा वह अन्ध के समान है॥ १०॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥ ११॥

अ०—यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वम्, अविवेकिता—(एतन्मध्ये) एकैकमप्यनर्थाय (भवति) (तर्हि) यत्र चतुष्टयं तत्र किमु॥

व्या०—यूनो भावो यौवनम्=यौवनावस्था, धनसम्पत्तिः=धनस्य सम्पत्तिः–धनविभव इत्यर्थः। प्रभुत्वम्=प्रभवति नियमनाय जनानां यः स प्रभुः, प्रभोर्भावः प्रभुत्वम्, स्वामित्वम् आधिपत्यं नियामकत्वमिति यावत्, अविवेकिता, विवेकस्य भावः विवेकिता न विवेकितेति अविवेकिता–विवेकशून्यता अज्ञानतेति यावत्। एतेषां चतुर्णां मध्ये एकैकम् = प्रत्येकमपि, अनर्थाय=अर्थः = पुरुषार्थो न भवतीति अनर्थः

शास्त्रनिषिद्धम् आपत्तिप्रदं कर्म इत्यर्थः, तस्मै भवति=एकैकमप्यनर्थं जनयतीति भावः । तर्हि यत्र=यस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयम्-यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता चेति चतुष्टयमपि एकत्रितं भवति, तत्र=पुरुषे, किमु=किं वक्तव्यम्, यतः स तु अनर्थानां खनि(कोश)रूप एव भवतीति भावः ।

भा०—जवानी, धनदौलत, आधिपत्य (अधिकार) और अज्ञानता (विवेकशून्यता) इन चारों में से एक-एक भी बड़ा-बड़ा अनर्थ (अत्याचार) कराता है; तो चारों जहां एकत्रित हों वहां कौन अनर्थ नहीं होगा । अर्थात् सभी अनर्थ होंगे (महाराज सुदर्शन के पुत्रों में ये चारों उपस्थित थे) ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्याऽऽत्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास ।

व्या०—इति = एतत् श्लोकद्वयम् आकर्ण्य=श्रुत्वा, आत्मनः=स्वस्य, अनधिगतशास्त्राणाम् = अधिगतं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्राः, अधिगतशास्त्राः न भवन्ति ते अनधिगतशास्त्राः, तेषाम्=शास्त्रज्ञानशून्यानामित्यर्थः । अत एव नित्यम् = सर्वदा उन्मार्गगामिनाम्=कुत्सितो मार्गः उन्मार्गः उन्मार्गेण गच्छन्तीति उन्मार्गगामिनः तेषाम्=कुपथप्रवृत्तानां द्यूतक्रीडादिव्यसनाऽऽसक्तानामित्यर्थः । पुत्राणां=स्वतनयानाम्, शास्त्राऽनुष्ठानेन=अनुष्ठीयते तत् अनुष्ठानम् अभ्यासः, अनुष्ठानं न भवतीत्यननुष्ठानम्, शास्त्राऽनभ्यासः, (अर्थात्) शास्त्रविरुद्धाचरणम् इति यावत्, तेन हेतुना उद्विग्नमनाः = उद्विग्नं व्याकुलितं मनः = मानसं यस्य सः, चिन्ताऽऽकुलितः सन्नित्यर्थः, तादृशः स राजा 'सुदर्शन'नृपतिः, चिन्तयामास = शुशोच ।

भा०—इन दोनों श्लोकों को सुनकर विद्याध्ययन नहीं करनेवाले तथा सर्वदा शास्त्र-निषिद्ध व्यसनों में चलने वाले अपने राजकुमारोंके शास्त्र-विरुद्धाऽऽचरण से दुःखित 'सुदर्शन' महाराज चिन्ता करने लगे ।

चिन्तां निरूपयति = 'कोऽर्थ' इत्यादिना 'पुस्तकेषु चे'ति (३९) पर्यन्तेन—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अ०—यः न विद्वान् (भवति), न धार्मिकः (भवति), (तेन) जातेन पुत्रेण कः अर्थः (भवति) ? (यथा) काणेन चक्षुषा किंवा (भवति), चक्षुः केवलं पीडा एव (भवति) । व्या०—यः पुत्रः न विद्वान् = वेत्तीति विद्वान् , पण्डितः, विविधशास्त्रकलाविज्ञानी न भवति इति यावत् । न धार्मिकः=न धर्मानुशीलनरतः(भवति), (तेन) अविदुषा अधार्मिकेण पुत्रेण = 'पुं'नामकनरकात् त्रायते इति पुत्रः, तेन । जातेन = स्वस्मादुत्पन्नेनापि, कः अर्थः=धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु कः पुरुषार्थः (भवति) सिद्ध्यति ? न कोऽपीत्यर्थः । स्वसम्बन्धिजनपुत्रैः वर्तमानैरपि तदपेक्षया साक्षात्

स्वतनयेनाऽर्पितं जलाञ्जल्यादिकं पितरस्तावदाप्नुवन्ति, अधमा अपि पितरः स्वतनयकृतमहायज्ञादिना उद्धारं (मोक्षं) गच्छन्ति, अधार्मिकेण पुत्रेण तु धर्मादिकः कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्यति । अत एवोक्तं 'पापिनां नोपतिष्ठन्ति स्नानं दानं जलाञ्जलिः' इति भावः । यथा (दृष्टान्तः) काणेन = नेत्ररत्नविहीनेन कूपाऽवशेषेणेत्यर्थः, चक्षुषा = नेत्रगोलकेन, किं वा ? = किं दर्शनादिकं फलं भवति ? न किमपि फलं भवतीत्यर्थः, अतः तादृशं चक्षुः केवलं पीडैव = पीडाकरमेवेत्यर्थः ।

भा०—जिस पुत्र में विद्या और धन नहीं है, वैसा पुत्र दीर्घायु होने पर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिये उसका जन्म निष्फल है । जैसे कि—नेत्ररत्नहीन और रोगयुक्त आंखसे प्रत्यक्ष देखना आदि कोई भी काम नहीं होता । इसलिए वह निरर्थक है और दुखदायी है ॥ १२ ॥

मृतपुत्रादपि मूर्खतनयस्य शोकप्रदत्वमाह—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चाऽन्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

अ०— अजातमृतमूर्खाणाम् आद्यौ वरम्; अन्तिमः न च वरम्; आद्यौ सकृद् दुःखकरौ; अन्तिमस्तु पदे पदे (दुःखदो भवतीति शेषः) । व्या०— न जातः अजातः अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खाः तेषाम्; अजातः=अनुत्पन्नः बीजभावाऽनापन्नः, मृतः=उत्पद्य निधनं गतः; मूर्खः=विद्याशून्यः; तेषां मध्ये आद्यौ-प्रथमोपस्थितौ अजातमृतौ पुत्रौ, वरञ्च = श्रेष्ठौ—तृतीयापेक्षया ईषत् प्रियौ भवतः । अन्तिमः = मूर्खस्तु न वरमिति; यतः = तेषामाद्यौ = अजातमृतौ; द्वौ सकृत् = एकवारं दुःखकरौ = क्लेशप्रदौ भवतः, अन्तिमः = मूर्खस्तु पदे पदे = प्रतिपदम्, क्षणे क्षणे, निरन्तरमिति यावत्; दुःखदो भवतीति ।

भा०—'पुत्र का उत्पन्न नहीं होना' अथवा 'उत्पन्न होकर मर जाना' या 'जीवन-पर्यन्त मूर्ख रहना'—इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से—'उत्पन्न नहीं होना' या 'उत्पन्न होकर मर जाना' ये दोनों अच्छे हैं; किन्तु तीसरा-'जीवनपर्यन्त मूर्ख पुत्र' अच्छा नहीं है । क्योंकि अनुत्पन्न पुत्र का बीजभाव के व्यर्थ होने पर ही क्षणमात्र दुःख होता है । मृत पुत्र के मरण समय में दुःख होता है, परन्तु दीर्घजीवी मूर्ख पुत्र से तो क्षण-क्षणमें दुःख होता है ॥ १३ ॥

किञ्च—वरं गर्भस्रावो, वरमपि च नैवाऽभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्याऽवजनिता ।
वरं वन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न वाऽविद्वान् रूपद्रविणगणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

अ०— गर्भस्रावः वरम्, न एव अभिगमनम् अपि च वरम् ; जातः प्रेतः वरम् ; अवजनिता कन्या अपि च वरम् ; वन्ध्या भार्या वरम् ; गर्भेषु वसतिः अपि च वरम् ; (किन्तु) रूपद्रविणगणयुक्तः अपि अविद्वान् तनयः न वा वरम् ।

व्या०-(प्रक्षिप्तोऽयं श्लोकः) गर्भस्रावः=गर्भस्य स्रावः गर्भस्रावः=गर्भपात इत्यर्थः। वरम्=ईषत् प्रियम्। न एव अभिगमनम्=ऋतुमत्या पत्न्या सह सम्भोगाकरणम् अपि च वरम्=श्रेष्ठम्। जातः=उत्पन्नोऽपि प्रेतः=मृतः पुत्रश्च वरम्; अवजनिता= उत्पादिता कन्या अपि च वरम्; वन्ध्या=अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्; गर्भेषु= कुक्षिषु वसतिः=स्थितिः अपि च वरम्; पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भावः। किन्तु रूपद्रविणगणयुक्तः=रूपं च द्रविणञ्च रूपद्रविणे; रूपद्रविणयोः गणः तेन युक्तः=सौन्दर्ययुक्तः धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थः। अपि=निश्चयेन। अविद्वान्—विद्याशून्यः; मूर्ख इति यावत्। तनयः पुत्रः न वरम्। शिखरिणीवृत्तम् ॥

भा०—जो पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो-वह अच्छा नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना ही अच्छा है; अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है; अथवा कन्या उत्पन्न होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है) ॥ १४ ॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १५ ॥

अ०—येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति सः जातः; परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते। व्या०—येन=पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन=उत्पन्नेन (सता) वंशः=स्वकुलम्, समुन्नतिम्=सम्यग् उन्नतिः समुन्नतिस्ताम्=अभ्युदयं गौरवं च याति= प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थः, सः पुरुषः जातः=सफलजन्मा भवति। परिवर्तिनि= परिवर्तते परिणमते प्रतिक्षणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे; उत्पादविनाशशालिनीति यावत्, संसारे=भवे, मृतः=निधनं गतः, मृत्वा इति यावत्, को वा व्यक्तिः न जायते=न उत्पद्यते। अर्थात् प्राणिनां मरणोत्तरं कर्मफलभोगार्थम् अवश्यं जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र यः कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुषः (पुत्रः) इत्यर्थः ॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार में कुटुम्ब के भाररूप तो बहुत ही मरते रहते और पैदा होते रहते हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य।
तेनाऽऽम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ १६ ॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमात् यस्य कठिनी न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति-वद। व्या०—गुणाः सन्ति येषां ते गुणिनः गुणवन्त इत्यर्थः। गुणिनां गणः=समूहः, तस्य गणना=श्रेष्ठवर्गेऽप्यग्रगण्यबोधिनी संख्या एकत्वादिरूपा तस्या आरम्भः=उपक्रमः तस्मिन् सतीत्यर्थः। गुणवतां संख्यासमये इति भावः। ससंभ्रमात्—संभ्रमेण गौरवेण सहितं ससंभ्रमं

तस्मात्, सगौरवादित्यर्थः, यस्य (पुंसः) पुत्रस्य कठिनी=वर्णविन्याससाधनरूपा खटिका (—भाषायां 'खड़ी' 'चाक' इति प्रसिद्धा) न पतति=एकत्वसंख्यालेखनार्थं न उपयुक्ता भवतीत्यथः। तेन=गुणगणनारहितेन पुत्रेण यदि अम्बा=माता, 'अम्बा माताऽथ बाला स्यादि'त्यमरः। सुतिनी=पुत्रवती भवति, तदा=तर्हि बन्ध्या=अजाततनया, कीदृशी=किंविधा भवति ? वद=कथय। मूर्खपुत्रशतेऽपि जननी वन्ध्यैवेति भावः। आर्यावृत्तम्।

भा०—जिस पुत्र का नाम गुणवान् श्रेष्ठ पुरुषों की गणना करते समय प्रथम नहीं लिया जाता, उसकी माँ को यदि पुत्रवती कहें तो बताओ वन्ध्या कैसी होती है ? ॥ १६ ॥

अपि च—**दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः।**
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः॥ १७॥

अ०—दाने तपसि शौर्ये च विद्यायाम् अर्थलाभे च यस्य मनः (यशः इति पाठान्तरम्) न प्रथितं सः मातुः उच्चार एव। व्या०—(यस्य पुरुषस्य मनः इत्यनेन सम्बन्धः) दाने=सत्पात्रेषु धनवितरणे। तपसि=तपस्यायां व्रतनियमादौ। शौर्ये-शूरस्य भावः शौर्यं तस्मिन्=वीरतायामित्यर्थः। विद्यायाम्=ज्ञानार्जने, अर्थलाभे-अर्थस्य=धनस्य, लाभे=अर्जने, यस्य पुरुषस्य मनः=अन्तःकरणम्, न प्रथितं=न सोत्साहतया ख्यातम्। सः पुरुषः (पुत्रः) मातुः=स्वजनन्याः, उच्चारः=पुरोपसमान इत्यर्थः, 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्' इत्यमरः।

भा०—जिस पुरुष (पुत्र) का अन्तःकरण दान देने में, तप करने में, विद्या पढ़ने में तथा धन कमाने में उत्साहित नहीं रहता है, वह पुरुष (पुत्र) माता के त्याग किये हुए मल के समान निरर्थक है ॥ १७ ॥

अपरञ्च—**वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि।**
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि॥ १८॥

अ०—एकः गुणी पुत्रः वरम् (भवति), मूर्खशतैः अपि न (वरेण सूयते)। एकः चन्द्रः तमो हन्ति, तारागणैः न च (तमः हन्यते)। व्या०—एकः=एकसंख्याकः, गुणी=दानतपोविद्यादिगुणवान्, पुत्रः=तनयः, वरम्=श्रेष्ठः, प्रियो भवतीत्यर्थः। मूर्खशतैः अपि=मूर्खाणां शतानि तैः, मूर्खसहस्रेणापीत्यर्थः, न च वरेण सूयते, सहस्रमूर्खपुत्रा अपि प्रिया न भवन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तो यथा—एकः=एकाकी अपि, चन्द्रः=शशी, तमः=निखिलमन्धकारम्, हन्ति=विनाशयति। तारागणैः ताराणाम्=नक्षत्राणाम्, गणैः=समूहैरपि (तमः) न च (हन्यते)। अत्र श्लोके 'मूर्खशतान्यपि' इति पाठान्तरम्। 'न च मूर्खशतं वरम्' इत्यपि पाठान्तरम्। 'न च तारागणोऽपि तत्' इत्यपि पाठान्तरम्।

भा०—जैसे एक ही तेजस्वी चन्द्रमा अपने तेज से समग्र अन्धकार को दूर करता है

किन्तु बहुत से भी तेजरहित ताराओं का समूह अन्धेरे का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही एक भी तेजस्वी पुत्र अपने सामर्थ्य से धन कमा कर अपने कुटुम्ब का दारिद्र्यरूपी अन्धेरा दूर करता है वही श्रेष्ठ है, परन्तु सैकड़ों मूर्ख पुत्र किसी काम के नहीं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः काप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

अ०—येन क्वापि पुण्यतीर्थे अतिदुष्करं तपः कृतम्, तस्य पुत्रः, वश्यः समृद्धः धार्मिकः सुधीः (च) भवेद्। व्या०—येन = पुरुषेण कापि = कस्मिंश्चिदपि, पुण्यतीर्थं= पुनाति इति पुण्यं = महापातकिनामपि पातकनाशनम्, तरति अनेनेति तीर्थम् = काशीप्रभृति, पुण्यं च तत् तीर्थञ्च पुण्यतीर्थं तस्मिन्, पापप्रध्वंसके त्रिविधतापोद्धारके क्षेत्रे इति भावः। अतिदुष्करम्=अतिदुःखेन क्रियते यत् तत् अतिदुष्करम्= अतिकठिनं, बहुकष्टसाध्यमिति यावत्। तपः = भगवन्नामजपन-मौन-व्रतोपवास-यज्ञाद्यनुष्ठानात्मकं कर्म, कृतम् = अनुष्ठितम्, श्रद्धाऽऽदरनैरन्तर्याऽऽसेवितमिति यावत्। तस्य = तपस्विनः पुण्यशालिनः पुरुषस्य, पुत्रः = तनयः, वश्यः—वशम् अर्हतीति वश्यः = सदा पितुराज्ञासेवाऽऽदिपरः, समृद्धः = धनपुत्रकलत्राऽधिकार-वैभवादिपरिपूर्णः, धार्मिकः = यज्ञदानादिधर्मानुष्ठानपरः सुधीः = शोभना शास्त्राध्ययनाऽऽसादितविचित्रप्रतिभावती धीः = बुद्धिर्यस्य इति सुधीः = शास्त्र-लोक-हृदयेतित्रयाऽनुकूलबुद्धिमानित्यर्थः। भवेत् = स्यात्।

भा०—जिस पुरुष ने पवित्र तीर्थस्थान में बहुत कठिन तप किया हो, उसी पुरुष के घर में पूर्व के पुण्य से अपने पिता की आज्ञा में रहने वाला तथा सेवा करने वाला, धन दौलत से सुखी, धर्म कार्य में प्रेमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ॥२०॥

अ०— हे राजन्! जीवलोकेषु नित्यम् अर्थागमः, अरोगिता च, प्रिया च प्रियवादिनी च भार्या, वश्यः पुत्रश्च, अर्थकरी विद्या च (एतानि) षड् सुखानि (भवन्ति)।

व्या०— हे राजन्! जीवलोकेषु=जीवानां प्राणिनां लोकाः=निवासस्थानानि इति जीवलोकास्तेषु, संसारे इत्यर्थः। नित्यम् = प्रत्यहं सदा, यावज्जीवनमिति यावत्। अर्थागमः—अर्थस्य = धनस्य आगमः = आयः। अरोगिता = निरोगिता, सदा शरीर-स्वास्थ्यमिति यावत्। प्रिया—प्रीणाति इति प्रिया = प्रीतिकरी, प्रियवादिनी—प्रियं वदतीति प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी चेत्यर्थः, भार्या—भ्रियते असौ सा भार्या=स्वस्त्री च। वश्यः = आज्ञावहः, पुत्रः = सुतश्च। अर्थकरी—अर्थं पुरुषार्थं करोतीति अर्थकरी = धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थप्रदेत्यर्थः। विद्या चेति, एतानि षट्प्रकारेण, सुखानि

भवन्तीति । 'जीवलोकस्य' इति पाठान्तरम् । उपजातिः वृत्तम् ।

भा०—इस संसार में छः सुख हैं, जैसे कि—प्रतिदिन पूर्ण धन प्राप्त होना २—शरीर सदैव निरोग रहना । ३—अतिशय प्रेम करने वाली तथा ४—मीठा बोलने वाली धर्मपत्नी (स्त्री) मिलना ५—आज्ञापालक पुत्र पैदा होना और ६—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली विद्या पढ़ना । ये छः न होने से जन्म व्यर्थ कहलाता है ॥ २० ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः ।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

अ०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः बहुभिः पुत्रैः कः धन्यः ? (भवति किन्तु) यत्र पिता विश्रूयते, (तादृशः) कुलालम्बी एकः पुत्रः वरम् । व्या०—कुशूलाऽऽपूरणाढकैः-कुशन्ति पवनादिना स्थानान्तरं गच्छन्तीति कुशूलाः=तुषाः, तैः आ समन्तात् पूरणा इति कुशूलापूरणाः, आढौकन्ते पूरयन्ति-इति आढकाः = अन्नमापकप्रमाणविशेषाः, (पलं निकुञ्चनं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम् । चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम् ॥ द्वावाढकौ भवेद् द्रोणो द्विद्रोणः शूर्प उच्यते । सार्धशूर्पो भवेत् खारी द्वे खार्यौ द्रोण्युदाहृता) कुशूलाऽऽपूरणाश्च ते आढकाश्च तैः कुशूलापूरणाऽऽढकैः = (सदृशार्थे लक्षणा) तुषपूर्णमानपात्रसदृशैरित्यर्थः । बहुभिः अनेकैः, पुत्रैः कः पुरुषः धन्यः = कृतकृत्यो भवति=जायते । न कोऽपीति भावः । किन्तु—यत्र=यस्मिन् पुत्रे सति, पिता = जनकः, विश्रूयते = लोकैः कीर्त्यते, लोकैः प्रशंसितो भवेदिति भावः । तादृशः कुलालम्बी-कुलं वंशम् आलम्बते आश्रयतीति कुलालम्बी = वंशस्य अभ्युदयकरः कुलदीपकरूपः, एकः अपि पुत्रः वरम् (बहुमूर्खपुत्रेभ्यः एकः यशस्वी धीमान् श्रेयानिति भाव.) ।

भा०—भूसी से परिपूर्ण पात्र के समान शरीरधारी अनेक मूर्ख पुत्रों से कोई भी पुरुष सुखी, यशस्वी नहीं होता, किन्तु कुल का पोषण तथा अभ्युदय करने वाला बुद्धिमान् एक भी पुत्र—जिससे पिता लोकमान्य होता है—श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २२ ॥

अ०—ऋणकर्ता पिता शत्रुः (भवति), व्यभिचारिणी माता च (शत्रुः भवति), रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति), अपण्डितः पुत्रः च (शत्रुः भवति)। व्या०—ऋणस्य कर्ता ऋणकर्ता = ऋणग्रहीता, पिता = जनकः, शत्रुः=शत्रुसमानो भवति, तथा व्यभिचारिणी = परपुरुषेण सह (गमनं) व्यभिचारं कुर्वती, माता = जननी च, शत्रुतुल्या भवति, एवं रूपवती-रूपम् अस्ति अस्या इति रूपवती = अतिसौन्दर्यवतीत्यर्थः, भार्या = पत्नी, च शत्रुसदृशी भवति । एवम्—अपण्डितः = अविद्वान् मूर्खः,

एतादृशः पुत्रः अपि शत्रुवद् दुःखदो भवतीति ।

भा०—'जो कष्ट देने वाला हो'—वही 'शत्रु'-कहलाता है । इसलिये ऋण करने वाला पिता ऋण करके कष्ट दे तो वह भी शत्रु ही है और व्यभिचार करनेवाली माता, कुरूप पति को नहीं चाहने वाली रूपवती स्त्री तथा मूर्ख रहकर सदा के लिए दुःख देनेवाला पुत्र भी शत्रुसमान हैं ॥ २२ ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

अ०—गुणवान् नरः यस्य कस्य प्रसूतः अपि (लोकैः) पूज्यते, वंशविशुद्धः अपि धनुः (यदि) निर्गुणः (तदा) किं करिष्यति ॥ व्या०—गुणवान्-गुणाः सन्ति अस्येति गुणवान्=गुणशाली, नरः=मनुष्यः, यस्य कस्य=श्रेष्ठस्य अधमस्य वा वंशस्य (सम्बन्धे षष्ठी) प्रसूतः=जातः अपि (लोकैः) पूज्यते=सम्मान्यते । तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तो यथा-वंशविशुद्धः-वंशो=वेणुः विशुद्धः=सशक्तो यस्य सः=सुदृढवेणुनिष्पन्नोऽपीत्यर्थः, धनुः=चापः, यदि निर्गुणः-निर्गतो गुणो=ज्या यस्य सः निर्गुणः=ज्याहीनः, तदा किं कार्यं=शत्रुहननादिरूपं करिष्यति ? अर्थात् न करिष्यतीति । तथा निर्गुणेन पुत्रेण किं स्यादिति भावः ।

भा०—उत्तम बाँस का बनाया हुआ भी धनुष जब तक रस्सी में नहीं ताना जाता, तब तक किसी भी (शत्रु-मारणादि) कार्य में समर्थ नहीं होता, वैसे ही श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ भी मनुष्य जब तक किसी गुण(कला) को नहीं सीखता तब तक किसी भी काम को सन्तोषपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

अ०—हा हा पुत्रक ! गतासु एतासु रात्रिषु (त्वया) न अधीतम् , तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौः इव, सीदसि । व्या०—हा हेति खेदे । हे पुत्रक ! पुत्र एवेति पुत्रकः, तत्सम्बुद्धौ हे पुत्रक ! एतासु गतासु=अतीतासु रात्रिषु=निशासु, गतेष्वहर्निशेष्वित्यर्थः । त्वया न अधीतम्=शास्त्रादिकं नाऽभ्यस्तम् , तेन हेतुना त्वं विदुषां=धीमतां मध्ये उपस्थितः सन् , पङ्के=कर्दमे, गौरिव=गोवत् सीदसि, गोवद् अवसन्नो भवसीत्यर्थः ।

भा०—जैसे कि कीचड़ में गई (धँसी) हुई गौ बाहर निकलने की बुद्धि नहीं होने से बाहर नहीं आ सकती, वैसे ही तुम भी विद्वानों की सभा में जाकर विद्या रहित होने से उस सभा को जीतकर श्रेष्ठता को नहीं पा सकोगे, इसलिये विद्या पढ़ना चाहिए ॥ २४ ॥

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? यतः—

व्या०—तत्=तस्माद्धेतोः, इदानीम्=एतर्हि काले, एते मम पुत्राः, कथं=केन

प्रकारेण, गुणवन्तः—गुणाः सन्ति एषामिति गुणवन्तः, विद्याविनयादिगुणपरिपूर्णाः इत्यर्थः। क्रियन्ताम् = विधीयन्ताम् ? यतः = यस्माद्धेतोः—

भा०—विद्याविहीन पुरुष की कहा भी विजय नहीं होती, इसलिये—ये मेरे पुत्र किस प्रकार से गुणी बनाये जायँ ? क्योंकि—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

अ०—नराणाम् आहारनिद्राभयमैथुनञ्च-एतत् पशुभिः समानम् (भवति) तेषां धर्मो हि अधिकः विशेषः (भवति), धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः (भवन्ति)।

व्या०—नराणाम्=मनुष्याणाम्, आहारश्च निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहारद्वन्द्वः एतत्=आहारादिकं चतुष्टयं, पशुभिः समानम्=पशुतुल्यमित्यर्थः। किन्तु तेषां मनुष्याणां धर्मः हि=धर्म एव, अधिकः विशेषः = पशुभ्यो व्यावर्तको गुणो भवति। अतो यदि मनुष्या धर्महीनास्तदा आहारादिचतुर्भिः पशुभिः समाना एवेत्यर्थः।

भा०—मनुष्यों में और पशुओं में—खाना, सोना, डरना, स्त्रीसंग करना, ये चारों क्रियायें तो समान ही हैं इसलिए मनुष्य और पशु दोनों में भेद नहीं है। लेकिन मनुष्यों में एक अधिक गुण धर्म है, उस धर्म से मनुष्यों का पशुओं से भेद कहलाता है, वह धर्म अगर मनुष्य में न हो तो वह मनुष्य पशु ही है ॥ २५ ॥

यतः—धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थकाममोक्षाणाम् एकोऽपि न विद्यते; अजागलस्तनस्य इव तस्य जन्म निरर्थकं(भवति)। व्या०—यस्य=पुरुषस्य, धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषाम्, तच्चतुर्विधपुरुषार्थमध्ये इत्यर्थः। एकः अपि न विद्यते=नास्ति, अजा = छागी, तस्याः गलस्य स्तनस्य इव=यथा निरर्थकत्वम्, तथा तस्य = धर्मादिपुरुषार्थरहितस्य पुरुषस्य, जन्म = आत्मनः मनुष्यशरीरयोगः, निरर्थकम् = निष्फलम् इत्यर्थः।

भा०—जैसे बकरी के गले में वर्तमान स्तन दूधरहित होने से निरर्थक कहा जाता है, वैसे ही जिस पुरुष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें से एक भी न हो, उस पुरुष का मनुष्यजन्म विफल है॥ २६ ॥

यच्चोच्यते—आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

अ०—(स्रष्ट्रा) आयुः, कर्म च, वित्तञ्च, विद्या, निधनमेव च, एतानि पञ्च अपि गर्भस्थस्य एव देहिनः सृज्यन्ते। व्या०— (स्रष्ट्रा निर्धार्यन्ते इत्यन्वयः) आयुः=जीवनसमयः, कर्म=आमरणान्तं स्वकृतधर्माऽधर्मप्राप्तशुभकार्यसमुदायः, वित्तं=द्रव्यादिसम्पत्तिः, विद्या = विविधकलाशास्त्रादिजन्यज्ञानम् , निधनं = मरणञ्च, एतानि=

आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्यैव = जननीगर्भस्थितस्यैव प्रसवात्पूर्वमेव, देहिनः—देहः शरीरं भोगस्थानत्वेन अस्ति अस्य = आत्मनः इति देही, तस्य = प्राणिनः इत्यर्थः, तत्सम्बन्धे सृज्यन्ते = निर्धार्यन्ते ।

भा०—तत्र प्राणियों के लिये गर्भ से ही ब्रह्मा ने पांच वस्तुएँ निर्धारित की हैं १-आयुष्य, २-प्रारब्धानुसार सुख-दुःख देने वाले कर्म, ३-धनवैभवादि, ४-विद्या = व्यावहारिक ज्ञान, अथवा कला-विज्ञानादि, (पशु आदि में भी बहुत से विज्ञानी मिलते हैं) ५-निमित्त मरण होता हो ॥ २७ ॥

किञ्च—**अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।**
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाऽहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

अ०—महताम् अपि अवश्यंभाविनो भावाः भवन्ति, (यथा) नीलकण्ठस्य नग्नत्वम् (भवति), हरेः महाऽहिशयनञ्च (भवति) । व्या०—महताम्=दिव्यैश्वर्यशालिनामपि नृपाणां देवानामपि चेति भावः, अवश्यं भविष्यन्तीति अवश्यंभाविनः= अवश्यमेव भवितव्याः, भावाः सुखदुःखादयो धर्माः, भवन्ति=आपतन्ति, अत एवोदाहरति—नीलकण्ठस्येति । नीलः, विषपानेन कृष्णरूपं कण्ठे यस्य सः, तस्य=दिव्यैश्वर्यशालिनोऽपि महादेवस्य, नग्नत्वम् = दिगम्बरत्वं, वर्तते । अथ च हरेः=विष्णोः, महांश्चासौ अहिः महाऽहिः=शेषः, तस्मिन् शयनम् इति महाऽहिशयनम् , 'महाहिःशयनम्' इति पाठान्तरम् । शेतेऽस्मिन्निति शयनं शय्या ।

भा०—प्रतापी और ऐश्वर्यवाले महान् पुरुषों को भी संसार में दैवाधीन होने वाले सुख-दुःख, वैभव, दारिद्र्य आदि अवश्य ही होते हैं, जैसे कि स्वयं महादेवजी को भी वस्त्राभाव से नग्न रहना पड़ता है और विष्णु को शय्या के अभाव से शेषनाग पर सोना पड़ता है ॥ २८ ॥

अन्यच्च—**यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।**
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥ २९ ॥

अ०—यद् अभावि (भवति), तद् न भावि (भवति), (यत्) भावि चेत् (भवति), तत् अन्यथा न (भवति) इति अयं चिन्ताविषघ्नः अगदः किं न पीयते (जनैः) । व्या०—'यत्=यद् वस्तु, अभावि=भविष्यतीति भावि, न भावि अभावि= भविष्यत्काले असम्भवीत्यर्थः । तद् वस्तु, न भावि = न भविष्यत्येवेति । यच्च वस्तु भावि=अवश्यसम्भवं चेत् ! तद् अन्यथा = अन्यप्रकारेण, न भावि' इति=एवं प्रकारेण, अयं = ज्ञानरूपः, चिन्ता एव विषं गरलं तद् हन्तीति चिन्ताविषघ्नः=चिन्तारूपविषनाशकः, अगदः—नास्ति गदः = रोगो यस्मात् स अगदः = औषधम् , किं= कथम् , न पीयते = न सेव्यते ।

भा०—'शरीरधारियों' को जो नहीं होने वाला कार्य है वह किसी प्रयत्न से भी नहीं

होता और जो होने वाला है वह मिटता नहीं–ऐसा ज्ञान रखना चाहिए, क्योंकि उससे चिन्ता दूर होती है ॥ २९ ॥

एतत्कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम् ।

व्या०—एतत्='यदभावि न तद्भावि'—इत्यादिरूपम्, कार्याऽक्षमाणाम्=क्षमन्ते इति क्षमाः, न क्षमाः अक्षमाः, कार्येऽक्षमाः कार्याऽक्षमाः, तेषाम्=कार्यसिद्धिसम्पादने शक्तिविहीनानामित्यर्थः । केषाञ्चिद् आलस्यवचनम् = अलसानां भाव आलस्यम्, आलस्येन प्रयुक्तं वचनम् आलस्यवचनम्, बोध्यमिति शेषः । आलस्ययुक्ताः श्रम-कातराः पुरुषाः वदन्ति–'दैवात् सर्वं भवति, अस्माभिर्न प्रयतितव्यमिति' ।

भा०—यह कार्य करने में आलस्य रखने वाले किसी मनुष्य का आलस्यप्रयुक्त वचन है ।

पुरुषकारौत्कर्ष्यमाह—**यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।**

तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३० ॥

अ०—यथा हि एकेन चक्रेण रथस्य गतिः न भवेत्, तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति । व्या०—यद्वत्, एकेन = अद्वितीयेन, चक्रेण=रथाङ्गेन, रथस्य गतिः= गमनं, न भवेत् = न जायते, तथा = तद्वत्, पुरुषकारेण विना=पुरुषप्रयत्नमन्तरेण, दैवम् = भाग्यम्, अदृष्टमिति यावत्, न सिद्ध्यति = न फलदं भवति ।

भा०—जैसे कि रथ का चलना एक चक्र (पहिये) से नहीं हो सकता, दो से ही हो सकता है, वैसे ही दैव अकेला कुछ भी फल नहीं दे सकता, पुरुष के प्रयत्न करने से ही दैव फलप्रद होता है ॥ ३० ॥

तथा च—**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते ।**

तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३१ ॥

अ०—(यत्) पूर्वजन्मकृतं कर्म (भवति) तत् दैवम् (भवति) इति (विद्वद्भिः) कथ्यते, तस्मात् (जनः) अतन्द्रितः (सन्) पुरुषकारेण यत्नं कुर्यात् । व्या०— यत् कर्म = धर्माधर्मात्मकफलप्रदा क्रिया, पूर्वं च तत् जन्म पूर्वजन्म, तस्मिन् पूर्व-जन्मनि = प्राग्भवे, कृतम् = अनुष्ठितम्, तत् = पूर्वजन्मकृतं कर्म, दैवम् = भाग्यम्, इति विद्वद्भिः कथ्यते = व्यवह्रियते । पूर्वजन्मकृतशुभाशुभकर्मसम्पादितम् अदृष्टं धर्माऽधर्माख्यमेव दैवमिति भावः । तस्माद् हेतोः लोकः जनः, अतन्द्रितः–तन्द्रा= आलस्यं जाता अस्य इति तन्द्रितः, न तन्द्रित अतन्द्रितः = आलस्यं विहायेत्यर्थः, पुरुषकारेण = पुरुषप्रयत्नेन, पुरुषप्रयत्नमवलम्ब्येत्यर्थः । यत्नं = सर्वत्र कार्येषु उद्योग कुर्यादिति ।

भा०—दैव अर्थात् पूर्व जन्म में किये हुए धर्म–अधर्म रूप कार्य ही अदृष्ट है, उससे अतिरिक्त कोई दैव नहीं है, इसीलिये पुरुषप्रयत्न का अवलम्बन करके उत्साहपूर्वक सब कामों में उद्यम करना चाहिए ॥ ३१ ॥

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽप्तुमर्हति॥ ३२॥

अ०—दैवमपि सञ्चिन्त्य (जनः) आत्मनः उद्योगं न त्यजेत्, (यतः) अनुद्योगेन तिलेभ्यः तैलानि (जनः) आप्तुम् अर्हति। व्या०—दैवमपि सञ्चिन्त्य = 'अहं किं करवाणि यथा मम दैवं वर्तते तथा भविष्यति' इति मत्वा, जनः=अभ्युदयाभिलाषी, आत्मनः=स्वस्य, उद्योगं = व्यापारं चेष्टां, प्रवृत्तिमिति यावत्, न त्यजेत्= न परिहरेत्, यतः अनुद्योगेन=व्यापारानुकूलप्रवृत्त्यकरणेन तु तिलेभ्यः=तैलपूर्णेभ्यः अपि तिलेभ्यः, तैलानि अपि (जनः) निरुद्योगी पुरुषः आप्तुं = प्राप्तु नार्हति।

भा०—'भाग्य से ही सब होता है, मेहनत से कुछ नहीं' ऐसा सोचकर पुरुष को उद्योगहीन नहीं होना चाहिए क्योंकि मिलने योग्य तैलप्राप्तिरूप फल भी तिलों में से बिना प्रयत्न नहीं मिलता, इसलिये उद्योग करना चाहिए॥ ३२॥

अन्यच्च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

अ०—लक्ष्मीः उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति, कापुरुषाः—'दैवेन देयम्' इति वदन्ति दैवं निहत्य आत्मशक्त्या पौरुषं कुरु, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति, अत्र कः दोषः।

व्या०—लक्ष्मीः=सम्पत्तिः, उद्योगिनम्—उद्योगः=यत्नः अस्ति अस्य इति उद्योगी तम् उद्योगिनम् = प्रयतमानमित्यर्थः, पुरुष सिंहम्—पुरुषः सिंह इवेति=(उपमितसमासः) पुरुषसिंहस्तम्=पुरुषश्रेष्ठम्, उपैति = आश्रयति। दैवेन=भाग्येन, देयम्—दातुं योग्यं देयम्, सम्पादनीयमित्यर्थः इति= एवं तु कापुरुषाः—कुत्सिताः पुरुषाः कापुरुषाः = सामर्थ्य (पौरुष) हीनाः एव पुरुषाः, वदन्ति = कथयन्ति, अतः दैवं = भाग्याऽऽधारमात्रम्, निहत्य = दूरीकृत्य, आत्मनः शक्त्या=स्वस्य सामर्थ्येन, यथासामर्थ्यमित्यर्थः, पौरुषम् = पुरुषप्रयत्नम्, उद्योगमिति यावत्, कुरु=त्वं विधेहि। तादृशे यत्ने कृते सत्यपि यदि कार्यं न सिद्ध्यति = न सम्पद्यते, तदा अत्र = यत्ने प्रयतमानस्य पुरुषस्य को दोषः = का त्रुटिः, इति मार्गणीयमिति शेषः।

भा०—भाग्य में लिखी हुई भी लक्ष्मी (धन दौलत) पुरुष को प्रयत्न किये बिना नहीं मिलती, इसलिये 'भाग्यमें जो होगा वह मिलेगा व्यर्थ प्रयास नहीं करना' ऐसा जो निर्बल पुरुषोंका वचन है उसका ख्याल न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को प्रयत्न करते रहना चाहिए, प्रयास करने पर भी अगर लक्ष्मी न मिले तो प्रयास करने में क्या त्रुटि रह गई है? यह खोज करनी चाहिए॥ ३३॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥ ३४॥

अ०—यथा कर्ता मृत्पिण्डतः यद् यद् इच्छति, तत् तत् कुरुते, एवं मानवः

आत्मकृतं कर्म प्रतिपद्यते । व्या०—यथा = यद्वत् , कर्ता = कुम्भकारः, मृत्पिण्डतः- मृदां पिण्डः मृत्पिण्डस्तस्माद् = मृत्पिण्डात् मृत्तिकास्तूपादित्यर्थः, यद् यद् = शरावादिकं निर्मातुम् , इच्छति = अभिलषति, तत् तदेव कुरुते=निर्माति, एवम् = उक्तप्रकारेण, मानवः = मनुष्यः, आत्मकृतम् = आत्मना कृतम् आत्मकृतम् = स्वाऽनुष्ठितम् , कर्म = शुभाऽशुभकर्मफलमित्यर्थः, प्रतिपद्यते = लभते ।

भा०—जैसे मिट्टी के पिण्डसे भी घटादि बनानेका प्रयत्न करनेवाला कर्ता घटरूपी फल को प्राप्त करता है, वैसे ही सभी कामों में प्रयत्न करनेवाला पुरुष की हुई मेहनत से अवश्य फल को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

अपरञ्च—काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

अ०—काकतालीयवत् प्राप्तं निधिम् अग्रतः दृष्ट्वा अपि दैवं स्वयं न आदत्ते, (किन्तु) पुरुषार्थमपेक्षते । व्या०—काकतालीयवत्=काकतालीयन्यायेनेत्यर्थः (काकनिषदनकाले एव अकस्मात् तालस्य पतनवत्) प्राप्तम्=दैवयोगात् समुपस्थितम्, निधिम् = धनराशिम् , अग्रतः = पुरतः, दृष्ट्वा = निरीक्ष्याऽपि, दैवं तत् न आदत्ते= आनीय न ददाति अपि तु पुरुषार्थम् = स्वकरेणाऽऽदानाऽनुकूलप्रयत्नम् , अपेक्षते = अवलम्बते, अतः पुरुषार्थः कर्तव्यः ।

भा०—काकतालीय न्याय से (जैसे कि काक बैठा और उसी समय दैवयोग से ताड़-फल गिर पड़ा), वैसे दैवयोग से उपस्थित रत्न आदिक धन को भी जब तक प्रयत्न करके हाथ से न उठावे तब तक स्वहस्तगत नहीं होता है, इसलिये प्रयत्न करना चाहिए ॥३५॥

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

अ०—हि उद्यमेन कार्याणि सिद्ध्यन्ति, न (तु) मनोरथैः, सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न हि प्रविशन्ति । व्या०—हि = यस्माद्धेतोः, उद्यमेन = उद्योगेन, कार्याणि = अनुष्ठेयकर्माणि, सिद्ध्यन्ति = सफलानि भवन्ति । न तु केवलं मनोरथैः = उद्यमाऽसहकृतसङ्कल्पैः, सिद्ध्यन्तीति पूर्वाऽन्वयः । तत्राऽनुरूपदृष्टान्तमाह—नहीति । सुप्तस्य = निद्रितस्येव अवस्थितस्य, निर्व्यापारस्येति यावत् , सिंहस्य = केसरिणः, मुखे = आननमध्ये, मृगाः = हरिणादयः, न हि प्रविशन्ति = न हि यान्तीति ।

भा०—जैसे उद्यम नहीं करने वाले सिंह के मुख में मृग स्वयं जा कर नहीं गिरता, उद्यम करने से ही मिलता है, वैसे उद्यम करनेवाले पुरुष को ही सब अर्थ प्राप्त होता है केवल मनोरथ मात्र से कुछ भी नहीं होता ॥ ३६ ॥

तथा चोक्तम्—माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३७ ॥

अ०—येन, बालः न पाठितः (तद्बालकस्य) माता शत्रुः पिता वैरी (भवति) यथा हंसमध्ये बको न शोभते (तथा सः बालः) सभामध्ये (न शोभते)।
व्या०-येन = मातापित्रोरन्यतरेण, बालः=पुत्रः न पाठितः=न शिक्षितः, (तद्बालकस्य) सा माता शत्रुः=अहितकारिणी, सः पिता च वैरी=अहितकारी भवति, सः अनधीतो बालः यथा—हंसानां मध्यं हंसमध्यं तस्मिन्, बको न शोभते तथा विबुधानां सभामध्ये-सभायाः = परिषदः मध्यं सभामध्यं तस्मिन्, सभामध्ये = विबुधजनसंसदीत्यर्थः, न शोभते = न सम्यग् आदृतो भवतीति।

भा०—माँ-बाप को चाहिए कि अपनी प्रजा (सन्तति) को अवश्य विद्याध्ययन में नियुक्त करें। विद्या नहीं पढ़ाने से माँ बाप शत्रु कहाते हैं और जैसे हंसों के मध्य में बगुला शोभा तथा आदर नहीं पाता है, वैसे विद्याहीन सन्तति भी विद्वानों के मध्य में शोभा और आदर नहीं पाती ॥ ३७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३८ ॥

अ०—रूपयौवनसम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः (अपि) विद्याहीनाः (पुरुषाः) निर्गन्धाः किंशुका इव न शोभन्ते। व्या०—रूपं=शरीरसौन्दर्यम्, यौवनं=तरुणत्वम्, ताभ्यां सम्पन्नाः, सौन्दर्यशालिनो यौवनशालिनश्चेत्यर्थः। विशालं= महत् मान्यं, श्रेष्ठमिति यावत्। तादृशं यत् कुलं=वंशः, तस्मिन् सम्भवः = जनिर्येषान्ते तादृशाः, श्रेष्ठवंशसम्भूता अपीत्यर्थः, विद्यया हीनाः विद्याहीनाः=गुणहीनाः, सन्तः इत्यर्थः, तादृशाः पुरुषाः (कर्तृपदम्), निर्गन्धाः—निर्नास्ति गन्धः=आमोदो येषान्ते निर्गन्धाः=सुगन्धात्मकगुणरहिताः, किंशुकाः=पलाशपुष्पाणीव, सौन्दर्ययुक्ता अपि न शोभन्ते=शोभादरौ न लभेते इति भावः।

भा०—जैसे सुन्दर लाल रूप युक्त और कोमल होने पर भी पलाशका पुष्प गन्धरहित होनेसे आदरणीय नहीं होता, वैसे ही सौन्दर्य, यौवन, श्रेष्ठकुल में जन्म आदि होनेपर भी गुण (विद्यादिकला) शून्य पुरुष का आदर नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अपरञ्च—**पुस्तकेषु च नाऽधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ।**
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥ ३९ ॥

अ०—(येन) पुस्तकेषु च न अधीतम्, गुरुसन्निधौ च न अधीतम्, (सः) स्त्रियाः जारगर्भ इव सभामध्ये न शोभते। व्या०—येन बालेन, पुस्तकेषु=नीत्यादिशास्त्रेषु, न अधीतम् = यथाशक्ति स्वयं न पठितम्, न वा गुरुसन्निधौ च = गुरोः सन्निधौ = शिक्षागुरोः सकाशेऽपीत्यर्थः, न अधीतम्, शास्त्रमिति शेषः। (सः) तादृशो बालः स्त्रियाः=रमण्याः, जारगर्भ इव-जारस्य गर्भः जारगर्भः=व्यभिचारेण उत्पन्नो बालः, इव = यथा, न शोभते, तथा सभामध्ये—सभाया मध्ये = लोकसमाजे इत्यर्थः, न शोभते = न उत्कर्षतया शोभां वहतीत्यर्थः।

भा०—जैसे व्यभिचारसे उत्पन्न हुआ पुरुष वर्णसंकर होनेके कारण जनसमुदाय में श्रेष्ठ नहीं कहाता, वैसे पुस्तकों में या गुरु के सामने जिसने विद्या का अभ्यास नहीं किया, वह जनसमाज में श्रेष्ठरूप से सम्मान्य नहीं होता है ॥ ३९ ॥

एतच्चिन्तयित्वा राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयतां मम वचनम्—'अस्ति कश्चिद् एवम्भूतो विद्वान्, यो मम पुत्राणां नित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अनधिगतशास्त्राणाम् इदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ?'

व्या०—सः राजा = सुदर्शननृपतिः, एतत् = उक्तं सर्वं, चिन्तयित्वा = विचार्य, पण्डितसभाम्-पण्डितानां = पण्डा=विद्योज्ज्वला मतिः जाता येषां तेषां व्यवहारादिनिपुणविबुधानाम्, सभां = मण्डलीम्, कारितवान् = कारयामास। ततः सः सुदर्शनराजा उवाच = उक्तवान्, भो भोः = सम्बोधनार्थकमव्ययम्, आदरे द्विरुक्तिः। पण्डिताः = हे विबुधाः, भवद्भिः मम वचनं = मे कथनम्, श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्। तद्वचनमाह—अस्तीति कश्चित्=कोऽपि, एवम्भूतः=एतादृशविशिष्टगुणोपेतः, विद्वान्—वेत्ति इति विद्वान् = विबुधजनः, पण्डितः, अस्ति = अस्यां सभायां वर्तते। यः = यः पण्डितः, नित्यं = सर्वदा, उन्मार्गगामिनाम्–उत् = उद्गतः कुत्सितः मार्गः = पन्थाः इत्युन्मार्गः, उन्मार्गं गच्छन्ति ते उन्मार्गगामिनः, तेषाम्=असत्कर्मप्रवृत्तानाम्, यतः अनधिगतशास्त्राणाम्–अधिगतं पठितं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्राः, ते न भवन्तीति अनधिगतशास्त्रास्तेषाम्, एतावत्समयम् अपि शास्त्राभ्यासविमुक्तानामित्यर्थः, मम = मे, पुत्राणा = तनयानाम्, इदानीम् = अस्मिन् काले, अध्ययनसमये व्यतीतेऽपि, यौवनकाले इत्यर्थः, नीतिशास्त्रोपदेशेन—नीतेः प्रतिपादकं शास्त्रं नीतिशास्त्रं तस्य उपदेशः = शिक्षा तेन, पुनर्जन्म—पुनः = द्वितीयम्, जन्म = पाण्डित्याऽऽधानेन मनुष्यगणनायोग्यतारूपं जननं कारयितुं समर्थः = शक्तो भवतीति।

भा०—इस प्रकार बहुत विचार करके उस राजा ने पण्डितों की एक बड़ी सभा बुलाई, उसमें राजा सुदर्शन ने कहा कि 'हे माननीय पण्डितवृन्द! मेरी प्रार्थना सुनिए—कोई ऐसा विद्वान् है जो कि शास्त्र तथा धर्म से विमुख मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर विद्वत्तासम्बन्धी नया जन्म दे सके ?'

यतः—**काचः काञ्चनसंसर्गाद् धत्ते मारकतीर्द्युतीः।**
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४० ॥

अ०—(यथा) काचः काञ्चनसंसर्गात् मारकतीः द्युतीः धत्ते, तथा मूर्खः सत्सन्निधानेन प्रवीणतां याति। व्या०—यथा यद्वत्, किञ्चिन्मात्रहरिद्वर्णः काचः-अपकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, काञ्चनस्य = सुवर्णस्य संसर्गः = सन्निधानं तस्मात्, (हेत्वर्थे पञ्चमी)। मारकतीः मरकतस्य मणेः इमाः मारकत्यः ताः मारकतीः (पिशङ्गमिश्रणात् नाति-

पिशङ्गहरिद्रूपाः किन्तु मध्याऽभाः), द्युतीः, कान्तीरिति यावत् [illegible]तं = धारयति। तथा = तद्वत् , मूर्खः = मूढः, अकुशल इति यावत् , एतादृश [illegible] पुरुषः, सतां = पण्डितानां, सन्निधानेन = सहवासेन, प्रवीणतां = निपुणतां [illegible]कुशलताधर्मश्रद्धादिकं याति = विन्दति ।

भा०—जैसे काँच हलका रंग का होने पर भी सुवर्ण के साथ रखने से मरकतमणि की कान्ति के समान तेजस्वी कान्तिवाला हो जाता है वैसे ही सद्गुणवाले पुरुषों के सहवास से दुर्बुद्धि वाला पुरुष भी सद्गुणवान् हो जाता है ॥ ४० ॥

उक्तं च—**हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।**

समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

अ०—हे तात ! हीनैः सह समागमात् मतिः हीयते हि, समैः च समताम् एति, विशिष्टैः च विशिष्टताम् (एति) । व्या०—हे तात ! हे प्रिय ! 'स्निग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्दः प्रयुज्यते' इति । हीनैः=स्वाऽपेक्षया न्यूनस्वभावबुद्धिगुणादिभिः पुरुषैः सह समागमात् = सदा सहयोगात् , मतिः=स्वकीयबुद्धिः गुणाः स्वभावश्चेति, हीयते=नीचतां याति, हि=निश्चयार्थः । अथ च समैः=स्वसमानगुणशालिभिः समागमात् स्वबुद्ध्यादिकं समतां=समानस्थितिम्, यादृशं भवेत् तथैवेत्यर्थः, एति= प्राप्नोति । अथ च विशिष्टैः=स्वाऽपेक्षया गुणादिभिरुत्कृष्टैः सह समागमात्तु विशिष्टताम् ,,महतीं स्थितिमिति यावत् , एति प्राप्नोति ।

भा०—नीच पुरुषों के संग से श्रेष्ठपुरुष भी नीच काम करने वाला हो जाता है, समानगुणी जन के संग से अपनी यथास्थिति में ही रहता है और श्रेष्ठपुरुष के संग से नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है इसलिए महापुरुषों का संग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तत् मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।'

व्या०—अत्र = अस्मिन् , अन्तरे = अवसरे, विष्णुशर्मनामा = 'विष्णुशर्मा' इति नाम यस्य सः (बहुव्रीहिः) तादृशः, सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः—सकलानि च तानि नीतिशास्त्राणि चेति सकलनीतिशास्त्राणि, तेषां तत्त्वं = गूढाऽभिप्रायः, तत् जानाति इति, सकलशास्त्रेषु विद्वान् इत्यर्थः, महापण्डितः=विबुधाऽग्रगण्यः । बृहस्पतिरिव= सुरगुरुरिवेत्युपमा, अब्रवीत्=अकथयत् । हे देव ! हे राजन् ! एते राजपुत्राः=राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः, महाकुलसम्भूताः = महाकुले सम्भूताः महाकुलसम्भूताः = श्रेष्ठराजकुले लब्धजन्मानः सन्ति, तत्=तस्माद्धेतोः, एते, मया = विष्णुशर्मणा, नीतिं= नीतिशास्त्रम् , ग्राहयितुं = सम्यग् बोधयितुं, शक्यन्ते ।

भा०—राजा के निवेदन के बाद उसी समय 'विष्णुशर्मा' नाम का पण्डित जो कि सकल नीतिशास्त्र को जानता था और बृहस्पति के समान था उसने कहा-हे राजन् ! उत्तम

कुल में उत्पन्न हुए इन राजपुत्रों को मैं नीतिशास्त्र का ज्ञान करा सकता हूँ।

यतः—**नाऽद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।**

न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् पाठ्यते बकः ॥ ४२ ॥

अ०—अद्रव्ये निहिता काचिद् (अपि) क्रिया फलवती न भवेत्, (यथा) बकः व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् (केनाऽपि) न पाठ्यते। व्या०—अद्रव्ये-न द्रव्यम् अद्रव्यं तस्मिन् अयोग्ये पात्रे इत्यर्थः। निहिता=प्रयुक्ता, काचिदपि क्रिया=शिक्षाप्रदानाद्यात्मिका, फलवती=सफला फलशालिनी, न भवेत्। तत्र दृष्टान्तम्—यथा बकः= बकनामा पक्षी, अपात्रत्वात् व्यापारशतेनाऽपि—व्यापाराणां शतं तेन=बहुधा प्रयत्नेनाऽपि शुकवत्=यथा स्वल्पप्रयासेन शुकः पात्रत्वात् पाठ्यते तथेत्यर्थः। केनाऽपि न पाठ्यते=पक्षिशिक्षकेनाऽपि पाठयितुं न शक्यते इति।

भा०—जो कुपात्र हैं, उसमें प्रयत्नपूर्वक किया हुआ भी कार्य सफल नहीं होता, जैसे कि बगुला वाक्य बोलने का पात्र नहीं होने से बहुप्रयत्नपूर्वक किया हुआ शिक्षण भी उसे सफल नहीं होता है और सुग्गा का (पात्र होने से) शिक्षण सफल होता है। वैसे इन सुपात्र राजपुत्रों में मेरा प्रयत्न सफल होगा ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—**अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते।**

आकरे पद्मरागानां जन्म, काचमणेः कुतः ॥ ४३ ॥

अ०—अस्मिन् तु गोत्रे निर्गुणं अपत्यं न उपजायते, (यथा) पद्मरागाणाम् आकरे काचमणेः जन्म कुतः॥ व्या०—अस्मिन् तु=एतस्मिन् श्रेष्ठतमे भवदीये, गोत्रे=वंशे, निर्गुणम्—न विद्यन्ते गुणा यस्य तत् निर्गुणं=गुणशून्यम्, अपात्रमिति यावत्, एतादृशम्। अपत्यम्—न अधः पतन्ति पितरः अनेनेति अपत्यं=सन्ततिः, न उपजायते—न प्रादुर्भवति। यथा (दृष्टान्तम्)—पद्मरागाणाम्—पद्मस्य राग इव रागो येषान्ते इति पद्मरागाः=कमलान्तर्गतरक्तिमसमकान्तिमन्तो मणिविशेषास्तेषाम्, आकरे—उत्पत्तिस्थाने खनिविशेषे, काचमणेः=काचस्य तुच्छपार्थिवपदार्थस्य, जन्म=उद्भवः, कुतः=कस्मात् सम्भवति, अर्थात् न सम्भवत्येव।

भा०—बुद्धिशाली तथा सद्गुणी राजाओं के वंश में बुद्धिशाली और गुणवाली ही सन्तति उत्पन्न होती है, मूर्ख और गुणहीन नहीं होती है। जैसे कि मणि के उत्पत्तिस्थान में से मणि ही पैदा होता है, कांच नहीं होता। इसलिए बुद्धिशाली तथा सुगुणी इन राजपुत्रों को अल्प प्रयास से नीति का शिक्षण दे सकता हूँ ॥ ४३ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे भवत्पुत्रान् नीतिशास्त्राऽभिज्ञान् करिष्यामि।' राजा सविनयं पुनरुवाच।

व्या०—अतः=अस्मात् हेतोः, महाकुलप्रसूतत्वेन उपदेशग्रहणधारणपटुतायोग्यत्वादित्यर्थः। अहं=विष्णुशर्मा, षण्मासाभ्यन्तरे—षडवयवा मासाः षण्मासाः तेषाम्

अभ्यन्तरं = मध्यं तस्मिन्, षण्णां मासानामपरिसमाप्तौ यावदित्यर्थः । भवतः = राज्ञः, पुत्रान् = कुमारान्, नीतिशास्त्रम् अभिजानन्तीति नीतिशास्त्राभिज्ञास्तान् = नीतिनिपुणान्, करिष्यामि = विधास्यामीति । ततः राजा = सुदर्शनः, सविनयम्-विनयेन सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा = सप्रश्रयं, पुनः = भूयः उवाच = उक्तवान् ।

भा०—इस हेतुसे (बुद्धिमान् होने के कारण) छः मास के अन्दर आपके पुत्रों को नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूंगा । उसके बाद सुदर्शन राजाने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥ ४४ ॥

अ०—कीटः अपि सुमनःसङ्गात् सतां शिरः आरोहति, अश्मा अपि महद्भिः सुप्रतिष्ठितः (सन्) देवत्वं याति । व्या०—कीटः = क्षुद्रजन्तुः, अपि=स्पर्शनाऽनर्होऽपि सुमनःसङ्गात्—सुमनसां = कुसुमानां सङ्गः = योगः तस्मात्, पुष्पेऽवस्थानादित्यर्थः, सतां = महापुरुषाणां राजादीनाम्, शिरः = मस्तकम्, आरोहति = आश्रयति, शिरसि स्थानं लभते इत्यर्थः । एवम् अश्मा = प्रस्तरः, अपि = निकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, महद्भिः = श्रोत्रियपुरुषैः (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते) । सुप्रतिष्ठितः = वेदमन्त्रादिना प्रतिष्ठां नीतः, सन्, देवत्वं = लक्ष्मीनारायणादिदेवभावम्, याति = प्राप्नोति ।

भा०—जैसे क्षुद्रजन्तु कीड़ा भी पुष्प के योग से बड़े २ पुरुषों के शिर पर जा बैठता है और पत्थर भी बड़े पुरुषोंसे मूर्तिरूपसे स्थापित करने पर देवभाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मेरे पुत्र मूर्ख होनेपर भी आप जैसे विद्वान् के आश्रय में रहने से गुणवान् हो जायेंगे ॥४४॥

अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

अ०—यथा द्रव्यम् उदयगिरेः सन्निकर्षेण दीप्यते, तथा हीनवर्णः अपि सत्सन्निधानेन दीप्यते । व्या०—यथा=यद्वत्, द्रव्यम्=उदयाचलसमीपस्थं चाकचिक्यादियुक्तपाषाणादिकम्, उदयगिरेः = उदयाचलपर्वतस्य सन्निकर्षेण (हेत्वर्थे पञ्चमी) सामीप्यादित्यर्थः, दीप्यते = प्रकाशते, दीप्तिमद् भवति । तथा = तद्वत्, हीनवर्णः अपि—हीनः निकृष्टः वर्णः जातिर्यस्य, अथवा हीना वर्णा अक्षराणि यस्य सः=जात्याऽपकृष्टः अक्षरज्ञानशून्यो वेत्यर्थः, एतादृशः पुरुषोऽपि । सतां=महताम्, विबुधानामिति यावत्, सन्निधानं=सहवासः, आश्रयणमिति यावत्, तेन (हेत्वर्थे तृतीया), महतामाश्रयणादित्यर्थः । दीप्यते = शोभते, उत्कर्षं लभते इत्यर्थः ।

भा०—जैसे तेजहीन श्वेत पत्थर आदि वस्तु उदयाचल के समीप में रहने से तेजस्वी बन कर चमकती है, वैसे छोटी जाति में उत्पन्न हुआ अथवा कुछ भी नहीं पढ़ा हुआ ऐसा पुरुष भी बड़े पुरुष के आश्रय से बड़ा बन जाता है ॥ ४५ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥४६॥

अ०—गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य दोषाः भवन्ति, नद्यः आस्वाद्यतोयाः, प्रवहन्ति, समुद्रम् आसाद्य अपेयाः भवन्ति । व्या०- गुणाः=विद्याविनयशौर्यदानदाक्षिण्यादयः, गुणज्ञेषु गुणान् जानन्ति इति गुणज्ञास्तेषु=गुणपरोक्षणसमर्थेषु, पुरुषेषु, गताः सन्तः, गुणाः=गुणत्वेन ख्याताः, सद्गुणा इति यावत्; भवन्ति=सम्पद्यन्ते, ते एव=विद्यादयो गुणाः, निर्गुणं=तदपरीक्षकं कुपात्रम्, प्राप्य=आश्रयत्वेन=समासाद्य, दोषाः=दोषत्वेन ख्याता दुष्टगुणाः, भवन्ति = सम्पद्यन्ते । तत्र दृष्टान्तम्-नद्यः=सरितः, आस्वाद्यतोयाः-आस्वाद्यं=सुपेयं मधुरं, तोयं = जलं यासु ताः यासां ता वा इति आस्वाद्यतोयाः=सुपेयमधुरजलशालिन्यः, प्रवहन्ति=प्रकर्षेण वहन्ति । किन्तु ताः समुद्रं=लवणोदकसागरम् , आसाद्य=आश्रयत्वेन अङ्गीकृत्य, अपेयाः–पातुं योग्याः पेयाः, ताः न भवन्ति इति अपेयाः=क्षारसंसर्गात् पानाऽयोग्याः भवन्ति इति ।

भा०—जैसे जब तक जल नदियों में रहता है तब तक मधुर पीने लायक होता है और समुद्रमें जाने के बाद खारा हो जाने से पीने लायक नहीं रहता है । वैसे ही अच्छे २ गुण भी लायक (सज्जन) पुरुषों को सिखाने से श्रेष्ठ सद्गुण होते हैं और कुपात्र को सिखाने से गुण भी दुर्गुण दोषरूप हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम्' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो (करे) बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान् ।

व्या०—तत्=तस्माद्धेतोः, यतः सत्पुरुषयोगात् निकृष्टोऽपि उत्कर्षं याति अस्माद्धेतोरित्यर्थः । भवन्तः=यूयम् , विष्णुशर्मा पण्डितः (सम्मानार्थे बहुवचनप्रयोगः) एतेषां=पुरः समुपस्थितानाम् , अस्माकं पुत्राः अस्मत्पुत्राः तेषां=मम सुदर्शनस्य तनयानाम् , नीतिशास्त्रोपदेशाय-नीतिरेव शास्त्रः तस्य उपदेशः = शिक्षा, तस्मै इत्यर्थः, प्रमाणम्=('प्रमाणं नित्यमर्यादाशास्त्रेषु सत्यवादिनि । इयत्तायाम् च हेतौ च क्लीबैकत्वे प्रमातरि ॥' इति मेदिनीवचनात् 'प्रमाणम्' इति एकवचनं क्लीवत्वञ्च, 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवद्) प्रमातारः = स्वतन्त्रसत्ताका इत्यर्थः । इति = इत्थम् , उक्त्वा=कथयित्वा, सः सुदर्शनराजा, तस्य—शिक्षकत्वेन निर्धारितस्य विष्णुशर्मणः पण्डितस्य, (करे=हस्ते) बहुमानपुरःसरं—पुरः सरति इति पुरःसरः, बहुमानः पुरःसरो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति यथा तत् , अतिसम्मानपूर्वकमित्यर्थः, पुत्रान् = स्वसुतान् समर्पितवान् = सम्यक् अर्पयामास ।

भा०—महान् पुरुषके योग से ही महत्ता मिलती है—इसलिये इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का शिक्षण देने के लिये आप (विष्णुशर्मा) ही प्रमाणभूत हैं ऐसा कहकर राजाने उस विष्णुशर्मा पण्डित के हाथ में अति आदरपूर्वक अपने राजकुमारों को सौंप दिया ।

अथ मित्रलाभ-प्रस्तावः

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—भो राजपुत्राः शृणुत—

व्या०—अथ=समर्पणानन्तरम्, प्रासादपृष्ठे–प्रासादस्य=सौधस्य राजभवनस्य, पृष्ठम्=उपरिभागः चन्द्रशाला तस्मिन्, सुखोपविष्टानाम्—सुखम् उपविष्टाः तेषां शान्तिपूर्वकं स्थितानामित्यर्थः। राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः तेषां=नृपस्य तनयानामित्यर्थः। पुरस्तात्=समक्षम्। प्रस्तावस्य=अवसरसङ्गतेः, क्रमः=रीतिः तेन, अवसरं प्राप्येत्यर्थः, सः विष्णुशर्मा पण्डितः अब्रवीत्=कथयामास (वक्ष्यमाणमिति शेषः)। भोः राजपुत्राः=भोः–इति सम्बोधने, हे राजतनयाः यूयम् आकर्णयत।

भा०—राजपुत्रों के सुपुर्द करने के बाद राजभवन के ऊपर छतपर सुखपूर्वक बैठे हुए राजपुत्रों के सामने अवसर देखकर विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—हे राजपुत्रो! सुनो—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥ १॥

अ०—धीमतां कालः काव्यशास्त्रविनोदेन गच्छति, मूर्खाणां (तु कालः) व्यसनेन निद्रया कलहेन वा (गच्छति)। व्या०—धियः सन्ति एषामिति धीमन्तः तेषां=विदुषामित्यर्थः, कालः=आयुःसमयः, काव्यम्—कवेः कर्म काव्यं=रसान्वितं व्याख्यानं वचनमिति यावत्, तदेव शास्त्रम् इति काव्यशास्त्रम्, तेन यो विनोदः=आनन्दः तेन काव्यशास्त्रविनोदेन=आलोचने श्रवणे वा सति रसजनकवाक्यसमूहात्मकशास्त्रजनिताऽऽनन्देनेत्यर्थः, गच्छति=व्यतीतो भवति, न तु व्यर्थो गच्छति। मूर्खाणां=शास्त्रविमुखानां (तु कालः=आयुःसमयः) व्यसनेन—व्यस्यते चित्तम् अनेनेति व्यसनं तेन=सुरापानद्यूतक्रीडामृगयादिव्यसनेनेत्यर्थः। निद्रया=दिवानिद्रया, स्वप्नतुल्यया तामसावस्थाऽऽपन्नया मद्यपानादिजन्योन्मत्ताऽवस्थयेति यावत्। कलहेन=विवादेन वा, गच्छति=अतिवर्तते। इति।

भा०—बुद्धिमान् लोग अपने जीवन-समय को नीतिशास्त्रादि में बिता कर सार्थक करते हैं और मूर्खलोग तो जुआ खेलना आदि व्यसनों में या तो कलेश-टंटा में अपने जीवन-समय को बरबाद करते हैं, इसलिये अपने को नीतिशास्त्र के चिन्तन में विनोद करना चाहिए॥ १॥

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयिष्यामि। राजपुत्रैरुक्तम्–आर्य! कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच–शृणुत यूयम्, सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः।

व्या०—तत्=तस्मात्, 'यतः धीमतां काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति' इत्य-

स्माद्धेतोरित्यर्थः, भवतां = युष्माकम् (राजपुत्राणाम्), विनोदाय = प्रीत्यर्थम्, अह (विष्णुशर्मा) काककूर्मादीनाम्–काकश्च कूर्मश्च काककूर्मौ, तौ आदिर्येषान्ते तेषां काककूर्महरिणमूषकादीनामित्यर्थः विचित्रां = विविधां रमणीयां, मनोहारिणी त्यर्थः, कथाम् = उपन्यासम् वार्तामिति यावत्, कथयिष्यामि = वक्ष्यामि (ए च्छ्रुत्वा) राजपुत्रैः–राज्ञः पुत्राः राजपुत्रास्तैः = राजकुमारैः, उक्तम् = अभिहितम् आर्य ! = पूज्य ! कथ्यताम् (कथा भवद्भिरिति शेषः)। तदनन्तरम् विष्णुश पण्डितः, उवाच = उक्तवान्, यूयम् = भवन्तः राजपुत्राः, शृणुत = सावधान आकर्णयत, सम्प्रति = एतस्मिन् समये, मित्रलाभः—मित्रस्य = सुहृदो लाभः प्राप्तिः मित्रलाभाख्यविषयः प्रस्तूयते = यथाऽवसरं प्रारभ्यते, 'मित्रं कीदृग्भवति कीदृग् मित्रं कर्तव्यम, केन प्रकारेण वा श्रेष्ठमित्रं लभ्यते' इत्येतत् सर्वं कथयामि यस्य = मित्रलाभाख्यस्य उपाख्यानस्य अयं = वक्ष्यमाणः, आद्यः—आदौ भ प्रथमस्थः श्लोकः = अनुष्टुब्वृत्तात्मककविता, अस्तीति शेषः।

भा०--धीमान् पुरुषों का समय शास्त्रविनोद से ही व्यतीत होना चाहिये इसलि आपके विनोद के लिये मैं काक, कूर्म आदि की विचित्र मनोरंजक कथायें कहूंगा। त राजपुत्रों ने कहा--आर्य ! कहिये। (उसके बाद) विष्णुशर्माजीने कहा--आपलोग सुनि इस समय मित्रलाभ नाम की कथा प्रारम्भ करता हूँ, जिसका यह पहिला श्लोक है--

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाऽऽखुवत् ॥ २ ॥

अ०--असाधनाः वित्तहीनाः बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः काककूर्ममृगाऽऽखुवत् कार्या आशु साधयन्ति। व्या०--न विद्यन्ते साधनानि = अस्त्रशस्त्राद्युपायात्मकनिमित्तक रणानि येषान्ते असाधनाः, निरुपाया इत्यर्थः। वित्तेन=सुवर्णरूप्यकादिद्रव्येण ध न, हीनाः = शून्याः, दरिद्रा इत्यर्थः। बुद्धिः विद्यते येषान्ते बुद्धिमन्तः = बुद्धिम प्रतिभैतत्त्रयवन्त इति यावत्, ('बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया, मतिरागामिगोचरा प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥' इति) शोभनं = परस्परनिष्कपटं हृ येषान्ते सुहृदः, अतिशयेन सुहृदः इति सुहृत्तमाः = परस्परम् अतिशयेन सौहा आपन्नाः सर्वकार्यैकमत्याः सन्तः, काकश्च (वायसः) कूर्मश्च (कच्छपः) मृ (हरिणः) आखुश्च (मूषकः) इति काककूर्ममृगाऽऽखवः, ते इवेति काककूर्ममृ ऽऽखुवत्। आशु = शीघ्रम्, कार्याणि–प्रारब्धकार्याणि, साधयन्ति = सम्पादयन्ति

भा०--जैसे काक-कूर्म-हरिण-चूहा इन चारों के पास कोई साधन तथा धन था, तो भी अपनी बुद्धिमत्ता के साथ-साथ मित्रता से एकमत होकर असाध्य कार्य को सिद्ध किया वैसे अस्त्र-शस्त्रादिक साधन तथा धनरहित भी बुद्धिमान् मित्रगण मि असाध्य कार्य को भी सिद्ध कर सकते हैं ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्–

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिद् अवसन्नायां रात्रौ अस्ताचलचूडाऽवलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम् अपश्यत् । तम् आलोक्याऽचिन्तयत्–अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातम् , न जाने किम् अनभिमतं दर्शयिष्यति, इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

व्या०-राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः=राजकुमाराः, ऊचुः=कथयामासुः, एतत्='असाधना' इत्यादिश्लोकोक्तं यत् काकादीनां निदर्शनं (दृष्टान्तम्) तत् कथम् = केन प्रकारेणाऽस्ति ? इत्येवं प्रश्नानन्तरम् , सः = विष्णुशर्मा पण्डितः, अब्रवीत् = अकथयत्–गोदावरीतीरे–गोदावर्याः=गोदावरीनामनद्याः, तीरं = कूलं तस्मिन् , विशालः=विस्तृतशाखादिपरिकरः, शाल्मलीतरुः='शाल्मली'नामा तरुः=वृक्षः, अस्ति=विद्यते । तत्र=तस्मिन् वृक्षे, नानादिग्देशात्–दिक् च देशश्च तयोः समाहारः दिग्देशम् , नाना च तत् दिग्देशं चेति तस्मात् = विभिन्नदिशः विभिन्नदेशाच्चेत्यर्थः, आगत्य = एत्य, रात्रौ = निशायाम् , पक्षिणः–पक्षा विद्यन्ते एषाम् इति पक्षिणः=खगाः पतत्त्रिणः, निवसन्ति= रात्रिकालं यापयन्ति । अथ गच्छति समये, कदाचित्=एकस्मिन् समये, रात्रौ=निशायाम् , अवसन्नायां = क्षीणायाम्, प्रभातायां सत्यामिति यावत् , भगवति—भगाः= ऐश्वर्याणि सन्ति अस्य भगवान् तस्मिन्=ऐश्वर्यशालिनि, कुमुदिनीनायके–कुमुदिन्याः नायकः तस्मिन्=कुमुद्वतीपतौ, चन्द्रमसि = शशाङ्के, अस्ताचलस्य चूडा=शिखरम् , तदवलम्बते इति अस्ताचलचूडावलम्बि तस्मिन् , अस्तं गते सतीत्यर्थः । लघु=द्रुतं पतनम् उड्डयनं यस्य सः 'लघुपतनकः', लघुपतनक इति नाम=अभिधानं यस्य सः= लघुपतनकनामा, वायसः=काकः, प्रबुद्धः=प्रकर्षेण जागरितः, सन् , द्वितीयम्–द्वयोः पूरणः द्वितीयस्तं द्वितीयम्=अन्यम् , कृतान्तमिव—कृतं सृष्टम् अन्तयति मारयति यः कृतान्तस्तं यममिव, अटन्तम्—अटतीति अटन्तं=भ्रमन्तम्, पाशहस्तम्–पाशः= जालं हस्ते यस्य सः पाशहस्तस्तं = करगृहीतजालम् , व्याधं कञ्चित् मृगयुम् , अपश्यत्=ददर्श । तं=मृगयुम् , अवलोक्य=साक्षात्कृत्य, स वायसः अचिन्तयत्=चिन्तां कृतवान् , अद्य = अस्मिन् दिवसे, प्रातरेव = प्रभातसमये निद्रात्यागाऽवसरे एव, अनिष्टदर्शनम्—न इष्टः अनिष्टस्तस्य = अनभिलषितस्य अमङ्गलरूपस्य व्याधस्य दर्शनम्=अवलोकनम् , दैवात् जातं सम्भूतम् , न जाने=अहं (काकः) न वेद्मि, किम् अनभिमतं = किंविधम् अशुभम् , दर्शयिष्यति=घटयिष्यति, इत्युक्त्वा–इति वाक्यमुच्चार्य, तदनुसरणक्रमेण—तस्य व्याधस्य अनुसरणं = पश्चात् गमनं, तस्य क्रमः =

आचरणम् , तेन व्याकुलः = विशेषेण आकुलः सन् , चलितः = चचाल ।

भा०—तब राजपुत्रों ने कहा—असाध्य कार्य को भी सिद्ध करने में काक-कच्छपा का दृष्टान्त बताया सो किस प्रकार है ? विष्णुशर्मा ने कहा (कथा शुरू की)—गोदाव नाम की नदी के किनारे पर एक विशाल 'सेमल' का वृक्ष है, उस वृक्ष पर चारो तरफ बहुत से पक्षिगण देश-देशान्तरों से आकर रात्रि बिताते थे, एक बार प्रातःकाल हुआ औ भगवान् कुमुदिनीनायक, चन्द्रमा अस्त हो गये, तब एक 'लघुपतनक' नामक काक ने ना ही यम के सदृश और हाथ में जाल ले के घूमते हुए एक व्याध को देखा, व्याध को दे कर काक सोचने लगा- आज प्रातःकाल में ही अमाङ्गलिक (अशुभसूचक) दर्शन हुआ न मालूम यह किस प्रकार का अनिष्ट (आपत्ति) करेगा । इतना कहकर उस व्याध के पीछे पीछे वह काक व्याकुल होकर चल दिया ।

यतः—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ३ ॥

अ०—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च दिवसे दिवसे मूढम् आवि शन्ति, न तु पण्डितम् । व्या०—यतः कारणमाह–शोकादि । शोकस्य=परितापस्य स्थानानि = निमित्तानि तेषां सहस्राणि, सहस्रशः शोकस्य निमित्तकारणानीत्यर्थः भयस्य स्थानानि = निमित्तकारणानि, तेषां शतानि शतशः भयकारणानि चेत्यर्थः दिवसे दिवसे=प्रतिदिनमित्यर्थः । मूढं=मूर्खं पुरुषम् , आविशन्ति=व्याकुलीकुर्वन्ती त्यर्थः । न तु पण्डितं = बुद्धिमन्तं पुरुषम् , तानि शोकादिस्थानानि पराभवन्तीति।

भा०—मूर्ख जन अपने स्वभाव से ही नित्यप्रति शोक और भय के कारणों को उत्प करता है न कि विद्वान् , क्योंकि विद्वान् जन अपनी निपुणता से ही शोक के कारणों को भी शुभप्रद बना देते हैं इसलिये काक भी अपनी बुद्ध्यनुसार आनेवाला दुःख न आने पावे ऐसा प्रयास करने में प्रवृत्त हुआ ॥ ३ ॥

अन्यच्च—विषयिणामिदमवश्यं कर्त्तव्यम् ।
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥ ४ ॥

अ०—उत्थाय उत्थाय अद्य मरणव्याधिशोकानां किं निपतिष्यति (इति यद् भयम् उपस्थितम् (तत्) बोध्यम् । व्या०—किञ्च, विषयिणाम् = सुखप्रदविष याऽ(साधनविशेषा)भिलाषिणां गृहिणाम् , इदं = वक्ष्यमाणकार्यं तु, अवश्यं=नि श्चय एव कर्तव्यम् = अनुष्ठेयम् । तत्किमित्यत आह—उत्थायेति । प्रतिदिनं शय्याया उत्थितो भूत्वेत्यर्थः । अद्य = अस्मिन् दिवसे, मरणं = मृत्युः, व्याधिः = रोगाद्यात्मक शोकः = हृदयचिन्ताऽऽत्मकतापः, तेषां मध्ये किम् = कतमत्–मरणं व्याधिः शोक वा, निपतिष्यति = समेष्यति । इति = इत्येवं प्रकारेण यत् यत् महत् = अतिदारु णम् , भयं = भयनिदानम् , उपस्थितं = समागतं स्यात् , तत्तत् सर्वं बोद्धव्यम्।

भा०—इस संसार में अपना संरक्षण चाहने वाले जनों का यह कर्तव्य है कि–रोजाना प्रातःकाल उठकर मरण या दुःख अथवा शोक इन तीनों में से 'जो आज आने वाला हो–उसका विचार करके तब उस महान् भय को दूर करने के प्रयत्न में सावधान बने ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणान् अवलोकयामास । ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्राह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः, तन्निरूप्यतां तावत् , भद्रमिदं न पश्यामि प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम् ।

व्या०—अथ व्याधाऽनुगमनाऽनन्तरम्, (कुत्रचित्स्थले) तेन पूर्वोक्तेन व्याधेन, तण्डुलानां कणास्तान्=तण्डुलखण्डानित्यर्थः, विकीर्य=भूमौ विक्षिप्य, जालं=पतत्रिपक्ष्यादिबन्धनरूपं जालम्, विस्तीर्णं—भूमौ तण्डुलकणोपरि प्रसारितम्, (क्वचित्पुस्तके–'विस्तीर्य' इति पाठः तस्य प्रसार्य इत्यर्थो बोध्यः) स च=पूर्वोक्तः व्याधः, तत्र = समीपप्रदेशे, प्रच्छन्नः = लतागुल्मादौ तिरोहितो भूत्वा, स्थितः = वर्तते स्म, अस्मिन्नेव काले=समये, चित्रग्रीवनाम्ना–गिलति अनया सा ग्रीवा, चित्रा=नानारूपवर्ती ग्रीवा यस्य सः=चित्रग्रीवनामक इत्यर्थः। कपोतानां राजा इति कपोतराजः=वृद्धपारावतः, सपरिवारः-परिव्रियन्ते एभिः इति परिवारास्तैः सहितः सपरिवारः=परिजनसहितः, वियति = गगने,=गच्छन् उड्डयन् सन् , तान् विकीर्णान् तण्डुलकणान् , अवलोकयामास = ददर्श । ततः = दर्शनाऽनन्तरम्,कपोतराजः सः पारावताधिपतिः, तण्डुलकणलुब्धान्—तण्डुलानां कणाःतण्डुलकणाः, तण्डुलकणानां लुब्धास्तान्, तण्डुलखण्डलोलुपान् कपोतान् प्रति आह = उवाच, अत्र = एतस्मिन् , निर्जने = न 'विद्यन्ते जना यत्रेति निर्जनं तस्मिन् मनुष्यसञ्चरणशून्ये, वने = कानने तण्डुलकणानां कुतः = कस्माद् हेतोः, सम्भवः=उत्पत्तिः, निर्जनवने तण्डुलसम्भवो भवेन्न वा इति, प्रथमम् निरूप्यतां = निपुणतया विचार्यताम्, यतः विना विचारं कणभक्षणे प्रवृत्तौ कृतायां सत्याम् अहम्, इदं=साहसम्, भद्रं = सुखदं न पश्यामि अनेन साहसोत्पादकेन, तण्डुलकणानां लोभेन, अस्माभिः सर्वैः कपोतैरपि, प्रायेण= बाहुल्येन, तथा = व्याघ्रेण कङ्कणं प्रदर्श्य स्नानार्थं प्रेरितः पङ्के निमग्नः पान्थः पश्चान्मारितः तादृशाऽवस्थैः, भवितव्यमिति ।

भा०—उसके बाद उस व्याध ने चावल के कणों को पृथ्वीपर छींटकर ऊपर से जाल को फैला दिया और वह व्याध पास के छोटे पेड़ों के निकट छिपकर बैठ गया, उसी समय 'चित्रग्रीव' नाम के कबूतरों के राजाने अपने परिवार-सहित आकाश में उड़ते २ उन चावल के कणों को देख लिया, उसके बाद उन चावल के कणों को खाने के लिये लोभी कबूतरों से

कपोतराज ने कहा–इस मनुष्यरहित जङ्गलमें चावल के कणों का संभव कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता है) इसलिये प्रथम उस बात का विचार करिये। (साहस करने से मैं कपोतराज अपना) कल्याण नहीं देख रहा हूँ, इन चावलों के कणों के लोभसे अपने को भी वैसा ही (जैसा कि सिंहके कहने से एक यात्री को सोने के कङ्कण के लोभ से तालाब के कीचड़ में फँस कर मरना पड़ा) होना पड़ेगा।

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः सम्मृतो यथा' ॥ ५ ॥

अ०—कङ्कणस्य तु लोभेन सुदुस्तरे पङ्के मग्नः पथिकः वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः यथा सम्मृतः। व्या०—कङ्कणस्य=सुवर्णमयकराऽऽभूषणस्य वलयस्य, तु लोभेन=प्राप्त्य-भिलाषया तु, सुदुस्तरे=अतिदुःखेनाऽपि तरितुम् अशक्यं सुदुस्तरं तस्मिन् अतिगाढे इत्यर्थः, पङ्के=कर्दमे, मग्नः=निपतितः, पथिकः=पन्थानं गच्छतीति पथिकः=कश्चिन्मा-र्गगो यात्री, वृद्धश्चासौ व्याघ्रः तेन=जीर्णशार्दूलेन, सम्प्राप्तः=सम्यग् आक्रान्तः सन्, यथा=येन प्रकारेण, सम्मृतः=मृत्युं गतः, अस्माभिरपि प्रायेण तथा भवितव्यम्, इत्यन्वयः।

भा०—जैसे सोने के कड़े के लोभ से एक यात्री बाघ के कहने से तालाब में स्नान के लिये गया और वहाँ के गाढ़े कीचड़ में फंस गया, तब बाघने उसे मार डाला (ऐसे अपने को भी मरना होगा) ॥ ५ ॥

कपोता ऊचुः—'कथमेतत्' सोऽब्रवीत्—

कथा १

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्–एको वृद्धो व्याघ्रः स्नातः कुश-हस्तः सरस्तीरे ब्रूते–'भोः भोः पान्थाः ! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्' ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेन आलोचितं–भाग्येन एतत् सम्भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

व्या०—कपोताः=अन्ये पारावताः, ऊचुः=वदन्ति स्म, एतद् व्याघ्रेण पथिकस्य मारणं कृतं तत्, कथं=केन प्रकारेण जातम् ? इत्येवं पृष्टे सति, सः—कपोतराजः, अब्रवीत्=प्रत्युवाच—अहं कपोतराजः, एकदा=एकस्मिन् समये, दक्षिणाऽरण्ये= ऋच्छति गच्छति तपःसिद्ध्यर्थं यस्मिन् तत् अरण्यं=वनम्, दक्षिणं=दक्षिणदिशा-स्थं च तद् अरण्यं चेति तस्मिन्,'दण्डकाऽरण्ये' वने इति यावत्, चरन्–चरति इति चरन्=भ्रमन् सन् (वक्ष्यमाणम्) अपश्यम्=दृष्टवान्। तथा हि—एकः वयसा वृद्धः कश्चिद् व्याघ्रः=विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रति=घ्रात्वा जानाति पश्वादिकम् इति व्याघ्रः, स्नातः=कृतस्नानः, कुशाः सन्ति हस्ते यस्य सः कुशहस्तः, तथाभूतः सन्, सरन्ति जलानि भूमितलतो यस्मिन् इति सरः=तडागः, तस्य तीरं तस्मिन्=तडाग

तटे इत्यर्थः ब्रूते = कथयति—भोः भोः पान्थाः ! = (आदरे द्विरुक्तिः) हे हे पथिकाः !, इदं=मम करस्थितम्, सुवर्णस्य कङ्कणं सुवर्णकङ्कणं = स्वर्णमयं कराऽऽभूषणं वलयम्, युष्माभिः गृह्यताम् । ततः लोभेन आकृष्टः तेन लोभाकृष्टेन=लुब्धेन केनचित् पान्थेन = मार्गगेण, आलोचितं=चिन्तितम् , भाग्येन=पूर्वजन्मकृतपुण्येन दैवेन वा, एतत्-बहुमूल्यं सुवर्णकङ्कणम् , सम्भवति = सम्यक् प्राप्तं भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे आत्मनः = स्वस्य सन्देहः = मरणशङ्का यस्मिन् कार्ये वर्तते आत्मसन्देहस्तस्मिन् , मरणसन्देहास्पदकार्ये इत्यर्थः, प्रवृत्तिः = साहसप्रयत्नः, न विधेया = न कर्तव्या ।

भा०—कबूतरों ने पूछा—व्याघ्र ने पथिक को मार डाला वह कथा किस प्रकार है ? ब 'चित्रग्रीव' नाम का कबूतर कहने लगा—मैंने दक्षिणदिशा के 'दण्डक' बन में घूमते र ेखा कि-एक वृद्ध व्याघ्र स्नान करके हाथ में कुशा लेके तालाब के किनारे बैठकर बोलता ा कि हे यात्री लोग ! यह सोने का कड़ा ले लो, ऐसा सुनकर लोभ के अधीन हो के एक ात्री ने सोचा कि भाग्य से सुवर्ण का कड़ा मिला है, लेकिन जान के खतरे वाले कार्य में ाहस की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

यतः—अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

अ०—अनिष्टाद् इष्टलाभे अपि शुभा गतिः न जायते, यत्र विषसंसर्गः आस्ते द् अमृतम् अपि मृत्यवे (भवति) । व्या०—न इष्टम् अनिष्टं तस्माद् अप्रियाद् हितकरात् व्याघ्रादेः इष्टस्य लाभः इष्टलाभस्तस्मिन् = स्वेप्सितकङ्कणलाभेऽपि, ुभा = कल्याणदा, गतिः=गम्यते इति गतिः फलं दशापरिणाम इति यावत् , न ायते = न सम्पद्यते । तत्र दृष्टान्तम्—यत्र=यस्मिन् , अमृते; विषस्य=गरलस्य, ंसर्गः=किञ्चिन्मात्रसम्बन्धः, मिश्रणभावात्मकः, आस्ते=वर्तते, तत् = तादृशम् , मृतमपि = मृत्युनिवारकमपि, मृत्यवे = मरणाय भवति ।

भा०—जैसे अमृत यद्यपि बहुत इष्ट वस्तु है, तो भी विष का संसर्ग होने से उसको ाग देना चाहिये, वैसे ही अनिष्ट करने वाले प्राणीसे अपनी इच्छित वस्तु को ग्रहण रने से भी आखिर में दुःख होता है, इसलिये सोने का कड़ा भी त्याग देना चाहिए ॥६॥

किन्तु सर्वत्राऽर्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

अ०—नरः संशयम् अनारुह्य भद्राणि न पश्यति, पुनः संशयम् आरुह्य यदि ीवति, (तदा) पश्यति । व्या०—किन्तु=परन्तु, सर्वत्र=सर्वस्मिन् स्थले, अर्थानाम् र्जनं अर्थार्जनम्, तस्य प्रवृत्तिः तस्यां = धनैकत्रीकरणप्रयत्ने इत्यर्थः, सन्देह एव

आत्मनाशशङ्काऽवश्यं भवति। तथा च सन्देहे प्रमाणम् उक्तम्=अभिहितम्—न संशयमिति। नरः=मनुष्यः, संशयम् अनारुह्य=अस्मिन्कार्ये प्रवृत्तोऽहं जीविष्यामि मरिष्यामि वा इत्येवम् आत्मनः जीवनमरणसन्देहम् अकृत्वा, भद्राणि=बहुधनलाभादिशुभकार्याणि न पश्यति=न लभते। पुनः=किन्तु, संशयं=जीवनमरणादिसन्देहम्, आरुह्य=प्राप्य, प्राप्तमपि अतिक्रम्येति यावत्, यदि जीवति=प्राणिति, तदा भद्राणि पश्यति=लभते, इति।

भा०—धन के उपार्जनरूपी कठिन कार्यमें सब को प्रथम मरण तक आपत्ति का सन्देह हो जाता है, लेकिन उस सन्देह को दूर करके–'इष्ट की सिद्धि हो, या तो मरण हो'–ऐसा निश्चय करके ही कार्य करना चाहिये, ऐसा करने से ही इष्ट की सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत्। प्रकाशं ब्रूते–'कुत्र तव कङ्कणम्?'। व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्–कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?

व्या०—तत्=तस्मात् अस्याऽग्रे कङ्कण वर्तते न वा इति सन्दिग्धत्वात् हेतोः? तावदिति वाक्यालङ्कारे, निरूपयामि=कङ्कणस्य निश्चयं करोमि, कङ्कणस्य निश्चयार्थं, प्रकाशं=प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा, ब्रूते=कथयति, स यात्री इति शेषः। कुत्र=कस्मिन् स्थाने, तव (व्याघ्रस्य) कङ्कणम्, वर्तते इति शेषः। व्याघ्रः=शार्दूलः हस्तं=यस्य हस्तस्य मणिबन्धप्रदेशे कङ्कणं धृतं वर्तते तं भुजम्, प्रसार्य=विस्तीर्य, दर्शयति पान्थायेति शेषः। तद् दृष्ट्वा पान्थः=स यात्री, अवदत्=उवाच, कथं=केन प्रकारेण, मारात्मके=मारयति नाशयति इति मारः घातकः, मारः आत्मा शरीरं स्वभावो वा यस्य सः मारात्मकस्तस्मिन्=हिंस्रे, त्वयि=भवति, विश्वासः कर्तव्यो भवेत्। हिंस्रो न विश्वासभूमिः स्वेषामपि भवतीति भावः।

भा०—सुवर्ण का कड़ा है कि नहीं इस बात का प्रथम निश्चय कर लूं, (ऐसा सोचकर) वह यात्री बोला—'तुम्हारा कङ्कण कहाँ है?' (यह सुनकर) व्याघ्र ने अपना हाथ लम्बा करके कङ्कण बताया। उसके बाद यात्री बोला–'तू हिंसा करने वाला क्रूर प्राणी है, इसलिये मैं कैसे विश्वास करूं।'

व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामहम् अतीव दुर्वृत्त आसम्, अनेकगोमानुषाणां वधाद् मे पुत्रा मृता दाराश्च, वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमुपदिष्टः—'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तः न कथं विश्वासभूमिः?।

व्या०—व्याघ्रः=पूर्वोक्तः शार्दूलः, उवाच=उक्तवान्। रे पान्थ! =अरे यात्रिन्! शृणु=त्वम् आकर्णय, प्रागेव=पुरा एव यौवनदशायां=यूनो भावो यौवनं, यौवनस्य दशा, तस्याम्, यौवनावस्थायामित्यर्थः, अहम् (व्याघ्रः) अति=अत्यन्तं दुः=क्रौर्य

वृत्तम्-आचरणं यस्य सः अतिदुर्वृत्तः=हिंसादिदुराचरणः, आसम्=अभूवम् । अनेन गोमानुषाणां=गावश्च मानुषाश्च गोमानुषाः, अनेके च ते गोमानुषाश्च अनेकगोमानुषास्तेषाम् , बहूनां गवां मानुषाणाञ्चेत्यर्थः । वधात्=हननात्, हननजन्यपापपुञ्जादिति यावत् । मे=मम, पुत्राः=तनुजाः, दाराश्च=गृहिणी च, मृताः=निधनं गताः, अहं च (व्याघ्रः) वंशेन हीनः वंशहीनः = निर्वंशो जातोऽस्मि । ततः=वंशनाशानन्तरम् , केनचिद् धार्मिकेण=धर्मम् उपदिशति यः सः धार्मिकस्तेन धर्मोपदेष्ट्रा पुरुषेणेत्यर्थः, अहं (व्याघ्रः) उपदिष्टः = उपदेशेन नियन्त्रितोऽस्मि, आज्ञाऽङ्कितोऽस्मीति यावत् । भवान् = त्वम्, दानधर्मादिकम्-दानमेव धर्मः दानधर्मः, दानधर्मः आदिर्यस्य तत् दानधर्मादिकं दानप्रभृतिपुण्यकर्म, चरतु इति=करोत्वित्यर्थः । तदुपदेशात् = तस्य धार्मिकस्य पुरुषस्य उपदेशः=आज्ञात्मकं शिक्षणं तस्मात्, इदानीं=वर्तमानाऽवस्थायाम्, अहं=(व्याघ्रः) स्नानशीलः=स्नानं शीलं यस्य सः, त्रिसन्ध्यं स्नानकर्ता, वृद्धः= जीर्णशरीरः, अत एव गलितनखदन्तः=नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तम् , गलितं=पतितं नखदन्तं यस्य सः गलितनखदन्तः-हस्ते नखरहितः मुखे दन्तरहितश्चेत्यर्थः। तादृशः सन् , दाता = दानकर्ता, कथं = केन हेतुना, न विश्वासभूमिः = विश्वासस्य भूमिः-स्थानं, पात्रम् ? न भवामि किन्तु भवाम्येवेत्यर्थः ।

भा०—व्याघ्र ने कहा-अरे यात्रिन् ! सुनो, प्रथम ही युवावस्था में मैं बहुत हिंसामय कर्म करता था, बहुत से गौ और मनुष्योंको मारता था, उस पापसे मेरे पुत्र तथा स्त्री सब मर गये, मैं निर्वंश हो गया । उसके बाद कोई एक धार्मिक पुरुष ने मुझको उपदेश दिया कि 'तुम दान आदिक धर्म करो' । उसके उपदेश से इस वृद्धावस्था में नित्य त्रिकाल-स्नान सन्ध्या करनेवाला और वृद्ध होने से मुख में दांत हीन, हाथ में नख हीन ऐसा मैं (व्याघ्र) विश्वास का पात्र क्यों नहीं हूँ ? (अर्थात् विश्वासपात्र ही हूँ) ।

उक्तञ्च—**इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।**
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

अ०—इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा अलोभः इति अयं धर्मस्य अष्टविधः मार्गः स्मृतः । व्या०—इज्या = यज्ञः, अध्ययनं = स्ववेदशास्त्रादिपठनम् , दानं सत्पात्रे वितरणं, तानि, तपः=चान्द्रायणादितपश्चर्या, सत्यम्=ऋतम् , धृतिः-धैर्यम् , दुःखसहिष्णुतेति यावत् , क्षमा=क्षान्तिः, अलोभः=अस्पृहा, तृष्णाराहित्यमिति यावत् । अयं धर्मस्य अष्टविधः = अष्टौ विधाः प्रकारा यस्य सः = अष्टधा, मार्गः = उपायः, स्मृतः = कथितः, शास्त्रेषु विद्वद्भिरिति शेषः ।

भा०—शास्त्रों में धर्म आठ प्रकारका कहा है, जैसे-यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ । (इनमें से मैं दान करता हूँ, सत्य बोलता हूँ, लोभ नहीं करता, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

अ०—तत्र पूर्वः चतुर्वर्गः दम्भार्थमपि सेव्यते, उत्तरः चतुर्वर्गः तु महात्मनि एव तिष्ठति । व्या०—तत्र = तेषु अष्टप्रकारेषु मध्ये, पूर्वः = प्रथमोक्तः, चतुर्वर्गः = चतुर्णां यागाऽध्ययनदानतपसां वर्गः दम्भार्थम् अपि, दम्भाय इदम् इति दम्भार्थम् = ख्यातिप्रतिष्ठाद्यर्थं, दम्भेनापीत्यर्थः । सेव्यते = अनुष्ठीयते, जनैरिति शेषः । उत्तरः चतुर्वर्गस्तु = सत्यधृतिक्षमाऽलोभात्मको धर्मस्तु, महात्मनि = महान् = उदारः आत्मा = चित्तं चरितं वा यस्य स इति महात्मा तस्मिन् महात्मनि = धार्मिके पवित्रपुरुषे एव, तिष्ठति = वर्तते इति ।

भा०—संसारमें बहुतसे लोग ख्याति, प्रतिष्ठा और यश के लिए याग, अध्ययन, दान और तप करते हैं । लेकिन सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ ये चार तो महापुरुषों के ही गुण हैं और अपने कल्याण के लिये ही उपयोगी हैं । (अलोभ तथा सत्य गुण से मैं महात्मा हूँ, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ९ ॥

मम चैतावान् लोभविरहः, येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छामि तथाऽपि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकाऽपवादो दुर्निवारः ।

व्या०—मम = व्याघ्रस्य, एतावान् = इयान् , लोभविरहः = लोभस्य विरहः त्यागः, लोभाऽभावो जात इत्यर्थः । येन = लोभाऽभावेन, स्वहस्तस्थमपि = स्वस्य हस्तः स्वहस्तः, स्वहस्ते तिष्ठतीति तं स्वहस्तस्थं = स्वकराऽऽभूषणरूपमपि, सुवर्णस्य कङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् अभ्यर्थिने, दातुम् = अर्पयितुम् , इच्छामि = अभिलषामि, तथाऽपि = यदेवं लोभं परित्यज्य दानादिना मदीयमहात्मत्वदशायामपि । व्याघ्रः = शार्दूलः; मानुषं = मनुष्यादिकम् , खादति = भक्षयति इत्ययं लोकानाम् अपवादः, दुर्निवारः = दुःखेनाऽपि निवारयितुम् अशक्यो भवतीति ।

भा०—मैंने यहाँ तक लोभका त्याग कर दिया है कि—अपने हाथ का सोने का कङ्कण भी जिस किसी को देना चाहता हूँ । तो भी 'व्याघ्र मनुष्यों को खा जाता है' ऐसा लोकापवाद मिटाने से नहीं मिटता ।

यतः—**गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।**
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

अ०—गताऽनुगतिको लोकः धर्मे गोघ्नं द्विजमपि यथा, (तथा) उपदेशिनीं कुट्टनीं नो प्रमाणयति । व्या०—गतस्य = अतीतस्य पूर्वजैरनुसृतस्य मार्गस्य, अनुगतिः = अनुसरणं यत्र सः गताऽनुगतिकः, प्राचीनाऽऽचरितमार्गाऽनुसारीत्यर्थः,

लोकः=लोकानां समुदायः, धर्मे=धर्मनिर्धारणे, यथा गोघ्नं गां हन्ति इति गोघ्नस्तं=गोहत्याकारिणम्, द्विजम्=अपि यथा द्वाभ्यां संस्काराभ्यां जन्मयज्ञोपवीताभ्यां जायते शुद्धयति स द्विजः, तं=विप्रम्, अपि-इव, धर्मे नो प्रमाणयति इत्यत्राऽन्वयः। तथा उपदेशिनीम्=उपदेशप्रदाम्, कुट्टनीं=शम्भलीं परपुरुषपरनार्योः व्यभिचारं कारयित्रीं स्त्रीम, नो प्रमाणयति=प्रमाणं न करोति ।

भा०—जैसे गोहत्या करने वाला ब्राह्मण तथा व्यभिचार कराने वाली स्त्री (शुभाऽऽचरण करते हुए भी) धार्मिक उपदेश करने से प्राचीनधर्मानुयायी मनुष्यों में आदरणीय नहीं हैं । (वैसे ही मैंने प्रथम बहुत हिंसा की है पर इस समय हिंसादोष रहित होने-पर भी मेरे वचन में विश्वास नहीं हो सकता परन्तु सचमुच मैं विश्वासपात्र हूँ) ॥ १० ॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि । शृणु—

भा०—मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़ा है । सुनो—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्त्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥

अ०—हे पाण्डुनन्दन ! यथा मरुस्थल्यां वृष्टिः, (सफला भवति यथा च) क्षुधाऽऽर्त्ते भोजनम्, (सफलं भवति) तथा दरिद्रे (यत्) दानं दीयते, (तत्) सफलं भवति । व्या०—हे पाण्डुनन्दन ! पाण्डोः='पाण्डुनाम्नो राज्ञः, तनयः=सुतः युधिष्ठिरः, तत्सम्बुद्धौ हे युधिष्ठिर ! यथा मरुस्थल्यां=जलशून्ये शुष्कप्रदेशे वृष्टिः=वर्षणम्, सफलं=सार्थकं भवति, यथा च क्षुधया आर्तः क्षुधार्तः तस्मिन्=क्षुधा-पीडिते जने, भोजनं=भोजनवस्तुदानम्, सफलं भवति, तथा दरिद्रे=धनहीने, यद् दानं दीयत तद् सफलं=बहुफलं भवति इति ।

भा०—हे युधिष्ठिर ! जैसे कि सूखी भूमि में वृष्टि सार्थक होती है और भूखे को भोजन देना सार्थक होता है वैसे ही निर्धन को धनदान देना बहुत सार्थक है, (ऐसा मान-कर मैं दान देता हूँ, तुम ले लो) ॥ ११ ॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ १२ ॥

अ०—यथा आत्मनः प्राणाः अभीष्टाः (भवन्ति) तथा भूतानामपि ते (भवन्ति) साधवः आत्मौपम्येन भूतानामपि दयां कुर्वन्ति । व्या०—यथा आत्मनः=स्वस्य, प्राणाः=असवः, अभीष्टाः=प्रियाः, भवन्ति तथा भूतानामपि=स्वभिन्नानां सर्वेषां शरीरिणामपि, ते=प्राणाः अभीष्टा भवन्ति । अत एव, साधवः=सज्जनाः आत्मौप-म्येन=उपमाया भावः औपम्यं आत्मनः औपम्यं तेन स्वतुलनयेत्यर्थः । भूताना-मपि=सर्वशरीरिणाम् अपि, उपरि, दयां=त्राणाऽनुकूलां कृपाम् कुर्वन्ति ।

भा०—अपने प्राण जैसे अपने को प्यारे हैं, वैसे ही सब जीवों को उनके प्राण

प्यारे हैं, ऐसा समझ कर साधुजन प्राणिमात्र के ऊपर दया रखते हैं ॥ १२ ॥

अपरञ्च—**प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।**
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

अ०—पुरुषः प्रत्याख्याने दाने च सुखदुःखे प्रियाऽप्रिये च आत्मौपम्येन प्रमाणम् अधिगच्छति । व्या०—पुरुषः=सज्जनः (स्वस्य) प्रत्याख्याने=भर्त्सनं, प्रार्थितस्याऽलाभे वा, एवं दाने=स्वस्मै धनाऽर्पणे च, सुखदुःखे=सुखं च दुःखं चेति तयोः समाहारः सुखदुःखं तस्मिन्, सुखे स्त्रीभोगचन्दनमालादिरूपे, दुःखे च ज्वरव्याधयादिरूपे इत्यर्थः, प्रियाऽप्रिये=प्रियं च अप्रियं च तयोः समाहारः प्रियाऽप्रियं तस्मिन् प्रिये=सन्तोषजनके सम्मानादिविषये, अप्रिये=असन्तोषकारके विरुद्धाऽऽचरणादौ, आत्मौपम्येन=आत्मनः स्वस्य औपम्येन सादृश्येन तुलनया प्रमाणं दृष्टान्तम्, अधिगच्छति=अध्यवस्यति, जानाति समालोचयतीति ।

भा०—अपना अपमान होने से तथा दानादिलाभ होने से, प्रियविषय में तथा अप्रिय विषय में जैसा अपने को सुख-दुःखादि का अनुभव होता है, वैसा ही सब जीवों को होता है, ऐसा समझ करके सज्जन लोग सब जीवों के ऊपर दयापूर्वक व्यवहार करते हैं ॥ १३ ॥

अन्यच्च—**मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।**
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

अ०—यः परदारेषु मातृवत्, परद्रव्येषु लोष्टवत्, सर्वभूतेषु आत्मवत् पश्यति सः पण्डितः । व्या०—यः=पुरुषः, परदारेषु=परेषां दाराः (दारशब्दः नित्यबहुवचनान्तः) स्त्रियस्तासु=परकलत्रेषु, परदारानित्यर्थः । मातृवत् मन्यन्ते इति मातरः तासु इव इति मातृवत् . जननीवेत्यर्थः । पश्यति इति शेषः । एवं परेषां द्रव्याणि= सुवर्णाधिनानि तेषु, परद्रव्याणीत्यर्थः । लोष्टवत्=लोष्टेषु इव, लोष्टानीवेत्यर्थः । पश्यतीति शेषः । एवम्-सर्वाणि च तानि भूतानि च तेषु, सर्वप्राणिनः इत्यर्थः । आत्मवत=आत्मनि इव, आत्मानमिवेत्यर्थः । पश्यति सः पुरुषः पण्डितः=विद्वान् विज्ञानी, महापुरुष इति यावत् ।

भा०—जिस पुरुष को परस्त्रियों में अपनी माता के समान भावना हो, तथा परधन (वस्तु) में ढेले के समान न लेने की भावना हो, तथा सब जीवों में आत्मसमान दृष्टि हो, वही महापुरुष कहाता है। (अर्थात्-जितेन्द्रिय, निर्लोभी,दयालु ही महापुरुष कहाते हैं)॥१४॥

त्वञ्च अतीव दुर्गतः,तेन तत् तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तम्-

व्या०—त्वञ्च=भवाँश्च, अतीव=अत्यन्तम्, दुर्गतः=दुरवस्थापन्नो निर्धनः, असि, तेन हेतुना, तत्=कङ्कणम्, तुभ्यं=भवते, दातुम्=अर्पयितुम् अहं सयत्नः-यत्नेन सहितः, अस्मि, भवत्सदृशाय निर्धनाय सत्पात्रायैव सुवर्णकङ्कणस्य दानम् उक्तशास्त्रेषु निर्दिष्टमिति ।

भा०—तुम बहुत गरीब हो इसलिये सुवर्ण का दान तुम जैसे को देनेके लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ । शास्त्र में वैसे ही बताया गया है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १५ ॥

अ०—हे कौन्तेय ! दरिद्रान् भर, ईश्वरे धनं मा प्रयच्छ, (यतः) व्याधितस्य औषधं पथ्यं भवति, नीरुजस्य औषधैः किम् ? व्या०—हे कौन्तेय ! कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेयः, तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय ! हे युधिष्ठिर ! दरिद्रान्=निर्धनान् , भर=अन्न-वस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे=धनवति पुरुषे, धनं मा प्रयच्छ=न देहि, यतः व्याधि-तस्य=व्याधिः सञ्जातोऽस्य इति व्याधितस्तस्य रोगिण इत्यर्थः । औषधं=भेषजम्, पथ्यं=पथः अनपेतं पथ्यं हितकरं भवति । नीरुजस्य=नास्ति रुजा यस्य सः नीरुज-स्तस्य रोगहीनस्य औषधैः किं प्रयोजनमस्ति? (अर्थात् न किमपि प्रयोजनमस्तीति)।

भा०—हे युधिष्ठिर राजन् ! निर्धनों का पालन करो, धनी को धन देना निष्प्रयो-जन होता है, कारण कि—रोगी को औषध देना सफल होता है, निरोगी को देने से कोई लाभ नहीं । (इसलिये हे यात्रिन् , मैं तुझे देता हूँ) ॥ १५ ॥

अन्यच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

अ०—दातव्यमिति यद् दानं देशे काले च अनुपकारिणि पात्रे दीयते, तद्दानं सात्त्विकं विदुः । व्या०—दानं दातव्यमिति निःस्वार्थभावनया यत् धनादिदानं देशे= तीर्थस्थले, काले = पुण्यपर्वणि, अनुपकारिणि = उपकारः प्रतिलाभोऽस्ति अस्य इति उपकारी स न भवतीति अनुपकारी तस्मिन् प्रत्युपकाररहिते, पात्रे = सत्पात्रे ब्राह्मणादौ, (अनुपकारिणे इति चतुर्थ्यन्तपाठे तु—'पात्रे' इत्यपि, पाति धर्मं इति पाता तस्मै इति व्युत्पत्त्या धार्मिकायेत्यर्थकं चतुर्थ्यन्तं बोध्यम्) दीयते तद्दानं सात्त्विकं = सात्त्विकभावान्वितं पुण्यप्रदम्, विदुः = विद्वांसो जानन्ति ।

भा०—जिसका बदला लेने की आशा न हो, और 'देना हो' ऐसा समझ कर जो दान पवित्र देश-काल में सत्पात्र को दिया जाता है-वही सात्त्विक दान शास्त्र में कहा गया है । (इसलिये मैं तुमको बदले की आशा विना देता हूँ, ले लो) ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृहाण । ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरः स्नातुं प्रविष्टः, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः । तं पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि ! अतस्त्वामहमुत्थापयामि' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

व्या०—तत्=तस्मात् , निर्धनाय सत्पात्रभूताय तुभ्यमेव दातुमिच्छामीति हेतोः, अत्र=अस्मिन् पुरोवर्तिनि, सरसि=सरोवरे, स्नात्वा=आप्लवनं कृत्वा, स्नानेन शुद्धो भूत्वेति भावः। इदं सुवर्णस्य कङ्कणम्, गृहाण=स्वीकुरु, ततः=व्याघ्रकथनानन्तरम्, यावत्=यस्मिन् क्षणे, लोभात्=लालसया, तद्वचःप्रतीतः=तस्य व्याघ्रस्य वचसि प्रतीतः विश्वस्तः सन् , 'जातविश्वासः' इति पाठान्तरम् । असौ यात्री, सरः स्नातुं प्रविष्टः, प्रविशति इति पाठान्तरम् । सरोवरे स्नानाय प्रविशति, तावत्=तस्मिन्नेव क्षणे, महांश्चासौ पङ्कः तस्मिन्=गाढकर्दमे, निमग्नः=नितराम् अतीव मग्नः अवगाढं निपतितः सन् , पलायितुं=प्रपलाय्य शार्दूलात् स्वरक्षणं कर्तुम्, अक्षमः=न क्षमते इति अक्षमः अशक्तः बभूव। तदनन्तरं पङ्के पङ्कमध्ये, पतितं=मग्नम्, तं=यात्रिणं, दृष्ट्वा=अवलोक्य, व्याघ्रः अवदत्=उक्तवान् , अहह ! अहो खेदे, हा हा महापङ्के=गाढकर्दमे, पतितः=मग्नः, त्वम्, असि, अतः=अस्माद्धेतोः, अहं (व्याघ्रः) त्वाम् (यात्रिणम्) उत्थापयामि=निष्कास्य जीवयामि, इत्युक्त्वा=उक्तप्रकारं वचनमुच्चार्य, शनैः शनैः—स्वैरं स्वैरम्, तेन व्याघ्रेण, उपगम्य=समीपे गत्वा, धृतः=सम्यग् आक्रान्तः, सः पान्थः=स यात्री (पथिकः) अचिन्तयत्=वक्ष्यमाणचिन्तनं चकार ।

भा०—तुमको ही देना है इसलिये तालाब में स्नान करके पवित्र होके सुवर्ण का कङ्कण ग्रहण करो ! ऐसा सुन कर लोभ से व्याघ्र के वचन में विश्वास रख कर तालाब में स्नान करने को जैसे गया कि एकदम भारी कीचड़ में गड़ गया और भागने को असमर्थ हो गया। उस यात्री को कीचड़ में गड़ा हुआ देख कर व्याघ्र बोला—अहा हा ! तुम भारी कीचड़ में गड़ गये हो, मैं तुमको बाहर निकालता हूँ। व्याघ्र ने ऐसा कह कर धीरे से यात्री के पास जाकर यात्री को पकड़ लिया. तब यात्री विचार करने लगा कि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चाऽपि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥१७॥

अ०—दुरात्मनः (धर्माऽऽचरणे इति शेषः) धर्मशास्त्रं पठति इत्यपि कारणं न, (भवति) वेदाध्ययनमपि (कारणं) न च (भवति), किन्तु अत्र-(धर्माचरणे) तथा स्वभाव एव अतिरिच्यते, यथा गवां पयः प्रकृत्या मधुरं भवति। व्या०—दुरात्मनः=दुः=दुष्ट आत्मा=भावना आचारो वा यस्य सः दुरात्मन्, तस्य दुरात्मनः दुष्टव्यक्तेः, (धर्माऽऽचरणे=धर्मात्मकप्रवृत्तौ) धर्मशास्त्रम्=धर्मस्य प्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् , तत् पठति=अधीते, दुरात्मा इति शेषः। इत्यपि कारणं न भवति=दुष्टात्मना धर्मशास्त्रम् अधीतं चेत् तेनाऽपि किं फलम्? न किञ्चित्, धर्मशास्त्राऽध्ययने कृतेऽपि दुष्टस्वभावस्य अविनाशाद् इत्यर्थः। एवं वेदाध्ययनं=वेदस्य=ऋक्सामयजुरथर्वणामन्यतमस्य, अध्ययनं=पठनमपि, दुरात्मनः धर्माचरणे

(कारणं) न च भवति। किन्तु अत्र = धार्मिकप्रवृत्तौ, तथा स्वभाव एव=जन्मना तादृशः सात्त्विकभाव एव, अतिरिच्यते = मुख्यकारणत्वेन परिगणनां वहति। यथा तत्र दृष्टान्तम् = गवां पयः दुग्धम् , प्रकृत्या = स्वभावेनैव, मधुरम् = अमृतसम-स्वादु, भवति। वंशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे गौ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभावसे ही सत्त्वगुणी सत्पुरुष हो उसकी ही धर्म में प्रवृत्ति होती है और जो स्वभाव से ही दुष्ट हो, उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन भले ही कर डाला हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते। (इसलिये दुष्टात्मा व्याघ्र-जैसे का शास्त्राध्ययन दूसरों को फँसाने के लिये ही है, धर्माचरणार्थ नहीं) ॥ १७ ॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

अ०—अवशेन्द्रियचित्तानां क्रिया हस्तिस्नानमिव (निष्फला भवति) क्रियां विना ज्ञानं दुर्भगाऽऽभरणप्रायः भारः (भवति)। व्या०—इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनि, चित्तानि=मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकाऽन्तःकरणानि, अवशानि इन्द्रियाणि चित्तानि च येषान्ते तेषाम्=इन्द्रियाऽन्तःकरणवशीभूतानामित्यर्थः। क्रिया=सन्ध्यावन्दनात्मिका नित्या, व्रतयज्ञात्मिका नैमित्तिका, यावत्यः क्रिया इत्यर्थः। हस्तिस्नानमिव= हस्तः=शुण्डादण्डः अस्ति अस्य सः हस्ती, हस्तिनः स्नानं तदिव, यथा हस्ती स्नात्वा पुनः स्वदेहं धूलीविकिरणेन मलिनीकरोति, अतस्तस्य स्नानं निष्फलम, तद्वदित्यर्थः। निष्फला = फलरहिता भवति, पुनः पापाचरणादिति भावः। तथा क्रियां विना=इन्द्रियविजयरूपं शास्त्रोक्तं वा यज्ञाद्यनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञानं= केवलधर्मशास्त्रादिजन्यबुद्धिरपि दुर्भगाऽऽभरणप्रायः—भगं = पतिसौभाग्यम् , दुः = नास्ति पतिसौभाग्यरूपं भगं यस्याः सा दुर्भगा, विधवेति यावत् , तस्याः आभरणम् = अलङ्कारः, तत्प्रायः = तत्तुल्यः, भार एव = विधवास्त्रीधृताऽऽभूषणानि न शोभावहानि, किन्तु भाररूपाण्येव, अथवा दुर्भगायाः वन्ध्यायाः भरणम् आजीवनं पोषणं यथा भाररूपं तथा निष्क्रियं ज्ञानं निरर्थकं भारभूतमित्यर्थः।

भा०—जैसे हाथी स्नान करके फिर अपने शरीर को धूलि से मलिन कर लेता है, इस लिये उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही इन्द्रियाधीन पुरुष सन्ध्या-यज्ञादि करके फिर पाप करता है इसलिए उसका सन्ध्यादि करना निष्फल है और इस हेतु से ही जैसे विधवा स्त्री को आभूषण धारण करना भाररूप है, वैसे इन्द्रियाधीन पुरुष का धर्मादि कार्य सब भार (क्लेश) रूप हो जाता है ॥ १८ ॥

'तन्मया भद्रं न कृतम् , यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः'। तथा चोक्तम्—

व्या०—तत्=तस्मात्, मया (यात्रिणा) भद्रं=सुखदं कर्म, न कृतम्=न आचरितम्, यत्=यस्मात् , अत्र=अस्मिन्, मारात्मके=हिंस्रस्वभावे व्याघ्रे, विश्वासः कृत इति।

भा०—इसलिये मैंने यह अच्छा काम नहीं किया, जो कि—इस हिंसक व्याघ्र में विश्वास किया। कहा भी है :—

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९॥

अ०—नखिनां शस्त्रपाणीनां नदीनां तथा शृङ्गिणां स्त्रीषु राजकुलेषु च विश्वासो नैव कर्तव्यः। व्या०— नदीनां = स्रोतस्वतीनां सरिताम्। शस्त्रं पाणौ येषान्ते शस्त्रपाणयस्तेषां=शस्त्रवतामित्यर्थः। नखाः सन्ति येषामिति नखिनस्तेषां=नखाऽऽयुधानां व्याघ्रादीनामित्यर्थः। शृङ्गाणि विद्यन्ते एषाम् इति शृङ्गिणस्तेषां=विषाणवताम्, गोमहिषमेषादीनामित्यर्थः (सर्वत्र सम्बन्धे षष्ठी) स्त्रीषु = नारीषु। राज्ञां कुलानि तेषु = राजवंशोत्पन्नेषु च विश्वासः न कर्तव्यः, कदाचिद् हानिकरत्वात्।

भा०—जिसका नियमित स्वभाव न हो जैसे कि—नदियां, शस्त्रवाले, सींगवाले, नख वाले, स्त्रियां और राजपुरुष, इनका विश्वास नहीं करना, (क्योंकि उनके अन्तर की कोई एक स्थिति न होने से कभी वे महादुःख की खाई में गिराते हैं)॥ १९॥

अपरञ्च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २०॥

अ०—(लोकैः) सर्वस्य स्वभावा हि परीक्ष्यन्ते इतरे गुणाः न (परीक्ष्यन्ते) हि सर्वान् गुणान् अतीत्य स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते। व्या०—सर्वस्य = प्राणिमात्रस्य स्वभावाः = प्रकृतयः हि = निश्चयं यथा तथा, परीक्ष्यन्ते = सम्यक् आलोच्य विचार्यन्ते, इतरे = दानधर्मविद्यादयो गुणाः न परीक्ष्यन्ते, लोकैरिति शेषः। हि = यस्माद्धेतोः, सर्वान् = यावतः, गुणान् = विद्यादीन् श्रेष्ठतमान् अपि गुणान्, अतीत्य = अतिक्रम्य, स्वभावः=जातिजन्मादिस्वभावः, मूर्ध्नि=सर्वाग्रे शिरो भूत्वेत्यर्थः, वर्तते।

भा०—जातिस्वभाव ही सब सद्गुण और दुर्गुणों को डांक कर प्रबल रहता है। इसलिये सभी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की ॥ २०॥

अन्यच्च—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २१॥

अ०—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी असौ विधुरपि विधियोगाद् राहुणा ग्रस्यते। इह ललाटे लिखितुं प्रोज्झितुं कः समर्थः (भवति)। व्या०—स हि=प्रसिद्धः सः, गगने विहर्तुं शीलमस्य इति गगनविहारी = आकाशे विहरणशीलः, कल्मषस्य=पापस्य, अन्धकारस्येति यावत्, ध्वंसं नाशं करो-

तीति कल्मषध्वंसकारी=सर्वपापघ्नः, सर्वाऽन्धकारघ्नो वा। दशाऽवृतं शतं दशशतं=सहस्रं करान् रश्मीन् धरतीति दशशतकरधारी=सहस्रांशुः सूर्यः, अथ च ज्योतिषां=ग्रहनक्षत्राणाम्, मध्यचारी = मध्यविहारी, असौ = प्रसिद्धः, विधुः = चन्द्रमाः, अपि, विधिः = दैवम्, तस्य योगात् = नियमात्, राहुणा=विधुन्तुदेन सैंहिकेयेन, ग्रस्यते=कवलीक्रियते (आच्छाद्यते)। इह=जगति, ब्रह्मणा यत् शुभाऽशुभम्, ललाटे=भाले, लिखितं=निश्चित्य निहितम्, तत् प्रोज्झितुम् = अन्यथाकर्तुं हातुम्, कः जनः समर्थः = शक्तः ? न कोऽपीत्यर्थः।

भा०—आकाश में चलने वाला, पापों का नाश करने वाला सूर्य और तारागणों के मध्य में रहने वाला चन्द्रमा वे दोनों दैवाधीन होकर राहु से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये विधाता से ललाट में लिखा हुआ भाग्य कभी बदलता नहीं है, ('मार्ग में चलते कङ्कण के लोभ मे व्याघ्र द्वारा मरना, या तो कङ्कण पाना' जो लिखा होगा, सो हो जायगा) ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण धृत्वा व्यापादितः खादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन' इत्यादि। अत एव सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यमिति।

व्या०—इति=उक्तप्रकारेण, चिन्तयन्=चिन्तां कुर्वन्नेव, असौ = अयं यात्री, व्याघ्रेण=शार्दूलेन, धृत्वा=गृहीत्वा, आक्रम्य, व्यापादितः=नखैर्विदारितः, खादितश्च। अतः = अविचार्य कर्मकर्ता मरणमाप्नोतीति हेतोः परिणामे शुभाऽशुभविचारमकृत्वा, कर्म = किमपि कार्यं, न कर्तव्यम्। अहम् (वृद्धकपोतराजः) ब्रवीमि = कथयामि, 'कङ्कणस्येत्यादि'। अत एव सर्वथा = येन केनाऽपि प्रकारेण, अविचारितं = प्राक् सम्यग् अनालोचितं कर्म = किमपि कार्यं न कर्तव्यमिति।

भा०—ऐसा विचार करते हुए उस यात्री को व्याघ्र ने मारकर खा डाला। इसलिये मैंने कङ्कण के लोभ का दृष्टान्त दिया। उसका सारांश यह है कि अपने को भी अविचारित काम नहीं करना चाहिए।

यतः—**सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः**
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्॥ २२॥

अ०—सुजीर्णम् अन्नम्, सुविचक्षणः सुतः, सुशासिता स्त्री, सुसेवितः नृपतिः, सुचिन्त्य च उक्तम्, सुविचार्य यत् कृतम्, (तत्) सुदीर्घकालेऽपि विक्रियां न याति।

व्या०—सुष्ठु जीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्नं = भुक्तान्नम्, सुष्ठु विचक्षणः = शिक्षितः, सुतः = तनयः, सुष्ठु शासिता = वशं नीता, स्त्री = भार्या, सुष्ठु सेवितः = आराधितः, नृपतिः = राजा, सुचिन्त्य = सम्यक् पूर्वाऽपरं विचिन्त्य = विविच्य, च

उक्तं=कथितम, सुविचार्यं=सम्यक् परीक्ष्य यत् कृतम्=अनुष्ठितम् । तत् सर्वं सुदीर्घकालेऽपि=सुदीर्घश्चासौ कालस्तस्मिन्=चिरकाले व्यतीतेऽपि, विक्रियां=विकारम् अन्यथाभावम्, न याति=न प्राप्नोति । वंशस्थवृत्तम् ।

भा०—जैसे पचे हुए भोजन से कभी भी विकार नहीं होता है, सुशिक्षित पुत्र से दुःख नहीं होता है, पतिपरायण स्त्री अधर्म नहीं करती है, प्रसन्न हुआ राजा हानिकारक नहीं होता है, निष्कपट बोलने से क्लेश नहीं होता है, वैसे ही विचार करके काम करने से भविष्य में कभी भी दुःख नहीं होता है । (इसलिये विचार करके चावल खाने के लिये जाना चाहिये)॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदर्पमाह—आः ! किमेवमुच्यते ?—

व्या०—एतद्वचनम्=कपोतराजाभिहितं वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, कश्चित् कपोतमण्डलान्तर्गतः कश्चिदेकः, कपोतः=पारावतः, सदर्पम्=दर्पेण सहितं सदर्पं=साहङ्कारम्, आह=ब्रवीति–आः=अनादरे, एवं=निरुत्साहम् उक्तप्रकारं वचनम्, किमुच्यते=कथं कथ्यते ।

भा०—वृद्ध कबूतर का वचन सुनकर कोई दूसरा कबूतर अहङ्कार के साथ बोल उठा —अँह, ऐसा उत्साहशून्य क्यों बोलते हो (उसके बोलने का ख्याल मत करो क्योंकि)—

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
सर्वत्रैवं विचारे च भोजनेऽपि प्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

अ०—आपत्काले उपस्थिते हि वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम्, सर्वत्र एवं विचारे (सति) भोजनेऽपि प्रवर्तनं न स्यात् । व्या०—आ=समन्तात् पद्यते आगच्छतीति=आपत् आपदः कालस्तस्मिन्=विपत्तिसमये, उपस्थिते हि=प्राप्ते एव, वृद्धस्य=वयोवृद्धस्य ज्ञानवृद्धस्य गुणवृद्धस्य च, वचनम्=उपदेशवाक्यम्, ग्राह्यम्=जनेन स्वीकार्यम्, न तु सर्वत्र, यतः सर्वत्र=सर्वस्मिन् अनपेक्षितवृद्धोपदेशविषये, एवम्=वृद्धवचनं ग्राह्यमिति, विचारे=पर्यालोचने कृते सति, भोजनेऽपि=आहारेऽपि प्रवर्तनं= प्रवृत्तिः, न स्यात् ।

भा०—बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आने पर वृद्धपुरुषों के वचनों को मान कर कार्य करना चाहिये । अल्प कार्य में भी वृद्धों के वचनों को मानने लगे, तो भोजन-जैसा साधारण कार्य भी स्वतन्त्रता से न हो सकेगा । (इसलिये चावल खाने को जाना चाहिये) ॥ २३ ॥

यतः—**शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानञ्च भूतले ।**
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥

अ०—भूतले शङ्काभिः अन्नं पानञ्च सर्वम् आक्रान्तम् , कुत्र प्रवृत्तिः कर्तव्या, कथं नु वा जीवितव्यम् । व्या०—भूतले–भुवस्तलं भूतलं तस्मिन्–भूमण्डले, शङ्काभिः=इदम् अनिष्टजनकं न वा इति संशयैः, अन्नं=भोज्यं, पानं=नीरक्षीरादिकम्, चेति सर्वम् , आक्रान्तं=व्याप्तम् । एवं सति कुत्र=कस्मिन् विषये, प्रवृत्तिः=

प्रयत्नः, कर्त्तव्या, नु = (प्रश्ने) तर्हि पृच्छामि, (हे चित्रग्रीव !) कथं वा = केन प्रकारेण, जीवितव्यं = प्राणितव्यम् ? अतः संशयमात्रेण तण्डुला न त्यक्तव्याः ।

भा०—संसार में खान-पानादि सब पदार्थों में अनुकूल होने का संशय रहता ही है, शङ्कामात्र से प्रवृत्ति का निरोध करने से जीवन चलना भी दुर्लभ होगा ॥ २४ ॥

तथा चोक्तम्—**ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।**
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥ २५ ॥

अ०—ईर्ष्यी घृणी तु असन्तुष्टः क्रोधनः नित्यशङ्कितः परभाग्योपजीवी च एते षट् दुःखभागिनः (भवन्ति)। व्या०—ईर्ष्या=पराऽभ्युदयाऽसहिष्णुता विद्यते अस्य इति ईर्ष्यी = परोत्कर्षाऽसहिष्णुः, घृणा विद्यते अस्य इति घृणी, सन्तोषरहितः, सतृष्ण इति यावत् । क्रोधनः = कोपनस्वभावः, द्वेषनशील इति यावत् । नित्यशङ्कितः = सर्वदा शङ्कायुक्तः, परस्य भाग्यं परभाग्यम्, परभाग्येन उपजीवतीति परभाग्योपजीवी = पराधीनजीवन इत्यर्थः । एते षट् = षट्संख्यकाः जनाः, दुःखं भजन्ते इति दुःखभागिनः = क्लेशभाजः भवन्ति ।

भा०—ईर्ष्यादिक सब दुःख के कारण हैं, इस हेतु से ईर्ष्यावाला, घृणा (नफरत) करने वाला, तृष्णावाला, क्रोधवाला, शङ्कावाला, पराधीन जीवनवाला मनुष्य दुःख को ही पाता है । (इससे निःशङ्क होकर चावल खाने को जाना चाहिये) ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

व्या०—एतद् = अव्यवहितपूर्वमुक्तं वचनम्, श्रुत्वा = आकर्ण्य, तण्डुलानां कणाः तण्डुलकणाः, तेषां लोभस्तेन, नभसः = गगनस्य मण्डलम् तस्मात्, अवतीर्य = अवरुह्य, सर्वे कपोताः = पारावताः, तत्र = जालाच्छादिते तण्डुलयुक्ते भूतले, उपविष्टाः = निषण्णाः ।

भा०—पूर्वोक्त वचन सुन कर चावलकणों के लोभ से आकाश में से नीचे उतर कर सब कबूतर जाल पर बैठ गये ।

यतः—**सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।**
छेत्तारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

अ०—सुमहान्ति शास्त्राणि धारयन्तः बहुश्रुताः संशयानां च छेत्तारः अपि लोभमोहिताः क्लिश्यन्ते । व्या०—सुमहान्ति=महार्थप्रतिपादकानि अनेकानि, शास्त्राणि= वेदवेदाङ्गादीनि, धारयन्तः = पठन्तः, बहुश्रुताः = बहूनि श्रुतानि येषां ते, विपुलज्ञानसम्पन्नाः, अत एव च संशयानां = बहुविधसन्देहानाम्, छेत्तारः = निराकर्त्तारः पण्डिता अपि, लोभेन मोहिताः लोभमोहिताः = लोभपरवशाः सन्तः, क्लिश्यन्ते= क्लेशमापद्यन्ते ।

भा०—वेद-शास्त्रों को पढ़े हुए और हर तरह के सन्देहों को दूर करने वाले पण्डित लोग भी लोभ से दुःख पाते हैं (तो चावलों के लोभी इन पक्षियों को आपत्ति आने में क्या आश्चर्य ?) ॥ २६ ॥

अन्यच्च—**लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते ।**
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

अ०—(यथावत् बोध्यः) । व्या०—लोभात् = धनाद्यर्थस्पृहातः, क्रोधः=कोपः, प्रभवति = जायते, एवमेव लोभात् , कामः = विषयभोगवासना, प्रजायते, एवमेव लोभात् , मोहः = विचारवैमुख्यम्, अविवेकित्वमिति यावत् , नाशः = मृत्युः, च, जायते, अत एव लोभः पापस्य = सर्वविधानिष्टस्य, कारणं = मूलं भवतीति ।

भा०—लोभ से लोभनीय वस्तु का प्रतिरोध करने वाले पर क्रोध होता है और लोभ से ही स्त्रियों के फंदे में फंस जाने से कामवासना पैदा होती है और लोभ से ही पापाचरण करने वाले को सत्य-असत्य का विचार भी नहीं सूझता, इससे कभी प्राणहानि भी हो जाती है । अतः लोभ ही सब पापों का कारण है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—**असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय ।**
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥२८॥

अ०—हेममृगस्य जन्म असम्भवं (भवति) तथाऽपि रामः मृगाय लुलुभे । समापन्नविपत्तिकाले पुंसां धियः अपि प्रायः मलिना भवन्ति । व्या०—हेम्नः = सुवर्णस्य मृगः=हरिणस्तस्य, जन्म = उद्भवः, असम्भवं=सम्भवरहितमेव, तथाऽपि= 'सुवर्णमृगो न भवती'ति ज्ञानसत्त्वेऽपि, रामः = रमन्ते योगिनोऽस्मिन् सः रामः दाशरथिः भगवान् , मृगाय = सुवर्णहरिणाय, लुलुभे = लोभाधीनो बभूव । यतः समापन्नाश्च ताः विपत्तयः समापन्नविपत्तयः = निकटवर्त्यापदः, तासां कालस्तस्मिन् , पुंसां = विबुधानामपि जनानाम्, धियः अपि, प्रायः = बाहुल्येन, मलिनाः= मोहिताः कर्तव्याऽकर्तव्यविचारशून्याः, भवन्ति ।

भा०—सुवर्ण का हरिण हो ही नहीं सकता है, तो भी श्री रामचन्द्र भगवान् सुवर्णमृग में लुब्ध हो गये, इस दृष्टान्त से निश्चय होता है कि विपत्ति आने के समय में बड़े पुरुषोंकी बुद्धि भी मलिन (विचारशून्य) हो जाती है (तो कबूतरोंकी बुद्धि के लिये क्या कहना !) ॥२८॥

अनन्तरं ते सर्वे जालनिबद्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

व्या०—अनन्तरं=निषदनानन्तरम्, ते सर्वे=कपोताः, जालेन निबद्धाः=संयताः बभूवुः । ततः = बन्धनानन्तरम् यस्य = यत्कपोतस्य, वचनात् = वाक्यश्रवणात् तत्र = जालाच्छादितभूतले, अवलम्बिताः = अवरूढाः, तं = कपोतम्, ते सर्वे= कपोताः, तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

भा०—बैठने के बाद वे सब कबूतर जालमें बंध गये, तब जिस (कबूतर) के कहने से वे सब कबूतर, जालयुक्त भूतल में उतरे थे, उस (कबूतर) का तिरस्कार करने लगे ।

यतः—**न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम् ।**
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥२९॥

अ०—(कश्चित्) गणस्य अग्रतः न गच्छेत् , कार्ये सिद्धे फलं समम् (भवति) यदि कार्यविपत्तिः स्यात् , यत्र (सर्वैः) मुखरः हन्यते । व्या०— गणस्य=समूहस्य, मण्डलस्येति यावत् । अग्रतः=अग्रे अग्रयायी भूत्वेत्यर्थः, न गच्छेत्=न प्रवर्त्तेत, यतः कार्ये = चिकीर्षिते कर्मणि, सिद्धे = निष्पन्ने सति तु, फलम्=इष्टलाभः, समं=तुल्यम्, समांशं भवतीति। यदि चेत् कार्यविपत्तिः=कार्यस्य चिकीर्षितस्य विपत्तिः=अनिष्पत्तिः, स्यात् , तदा तत्र=तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, सर्वैः, मुखरः=मुखं-वाक् अस्ति आज्ञाप्रदत्वेन अस्य इति मुखरः=आज्ञाकारी प्रवर्त्तक इत्यर्थः। हन्यते=तिरस्क्रियते इति।

भा०—किसी भी कार्य में समुदाय का नेता नहीं होना, क्योंकि कार्यसिद्धि होने पर सब समानफलभागी बनते हैं और कार्यसिद्धि नहीं होने से नेता को ही अपयश तथा तिरस्कार का पात्र (सब) बनाते हैं ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच —नाऽयमस्य दोषः । यतः—

भा०—प्रवर्तक कबूतर के तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—इस (प्रवर्तक कबूतर) का यह दोष नहीं । क्योंकि —

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३० ॥

अ०—हितः अपि आपतन्तीनाम् आपदां हेतुताम् आयाति, हि मातृजङ्घा वत्सस्य बन्धने स्तम्भीभवति । व्या०— हितः अपि=यो हितकरः सोऽपि, आपतन्तीनाम्= आगच्छन्तीनाम् , अवश्यम्भाविनीनाम्, आपदां = विपदाम् , हेतुतां=निमित्तकारणताम् , आयाति =आप्नोति । हि यतः मातुः जङ्घा मातृजङ्घा = परमहितकारी अपि स्वजनन्या ऊरुप्रदेशः, वत्सस्य बन्धने = संयमने, स्तम्भीभवति = न स्तम्भः अस्तम्भः, अस्तम्भः स्तम्भो यथा सम्पद्यमानस्तथा भवति इति स्तम्भीभवति, बन्धनस्तम्भो भवतीति ।

भा०—सदा हित करनेवाले जन भी अवश्य आनेवाली आपत्तियों में निमित्तभूत हो जाते हैं, क्योंकि गौ की जाँघ कभी (दोहन के समय) बछड़े का बन्धनस्तम्भरूप भी होती है । इसलिये यह कबूतर निर्दोष है ॥ ३० ॥

अन्यच्च—**स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।**
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३१ ॥

अ०— यः विपन्नानाम् आपदुद्धरणक्षमः (भवति) स बन्धुः (भवति) भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः तु न (बन्धुः भवति)। व्या०— यः = जनः, विपन्नानाम्= आपदाक्रान्तानाम् , आपदुद्धरणक्षमः—आपद्भ्यः = विपद्भ्यः उद्धरणं=परित्राणं तत्र क्षमः = समर्थः, आपत्तिकाले रक्षणकर्ता भवति इत्यर्थः। सः जनः बन्धुः = स्वजनः भवति, यस्तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः—भीतानां = विपद्गतानां परित्राणात्मकं यद्वस्तु=कार्यम्, तस्मिन् उपालम्भः = तिरस्कारः तस्मिन् पण्डितः = कुशलः, विपत्पराहतानाम् उपालम्भकर्ता इत्यर्थः। तु = पुनः, न स्वजनः भवति।

भा०—जो पुरुष विपत्तियों से बचाता है वही बन्धु है। विपत्तियों के आने पर रक्षण नहीं करके केवल तिरस्कार करने में कुशल जो पुरुष है वह बन्धु नहीं है॥ ३१॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम्, तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम्। यतः—

व्या०—विपत्काले—विपदाम्=आपदां कालः = वर्तमानसमयः तस्मिन् , विस्मय एव = व्याकुलचित्तता, अधैर्यमिति यावत्। कापुरुषलक्षणम्—कुत्सितः = लघुः पुरुषः कापुरुषस्तस्य लक्षणं= चिह्नं भवतीति। तत्—तस्माद्धेतोः, अत्र = एतादृशेऽस्मिन्नापत्तिसमये, धैर्यम् = धीराणां भावो धैर्यम् = अव्याकुलताम्, गाम्भीर्यमिति यावत्। अवलम्ब्य=आश्रित्य, प्रतीकारः = जालबन्धनविमुक्तेरुपायः, चिन्त्यताम्।

भा०—आपत्काल में व्याकुल होना ही हलके पुरुषों का लक्षण है, इसलिये धीरज रखकर इस जाल बन्धन से छूटने का उपाय खोजो। क्योंकि—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥ ३२॥

अ०—विपदि धैर्यम्, अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि चाभिरुचिः, श्रुतौ व्यसनम्, इदं हि महात्मनां प्रकृतिसिद्धम्। व्या०—विपदि= आपत्तिसमये, धैर्यं = चित्तस्याव्यग्रता, गाम्भीर्यमिति यावत्, अथ च अभ्युदये = सम्पल्लाभे, क्षमा = क्षान्तिः अनौद्धत्यम्, अनुत्फुल्लतेति यावत्, सदसि=विबुधजनसभायाम्, वाक्पटुता—वाचां=वाणीनां पटुता=सयुक्तिकश्रवणमधुरता हृद्यग्राहिता च, युधि = संग्रामे, विक्रमः = जयशीलपराक्रमयुक्तशूरता, यशसि = आनुषङ्गिके यशसि ख्यातौ, अभिरुचिः = तीव्राभिलाषा, श्रुतौ = शास्त्रे, व्यसनम् = अत्यन्तमासक्तिः, इदं हि = एतत् सर्वमेव (हि = निश्चयार्थकः) महात्मनाम् = महान् धैर्यादिभिरुदारः आत्मा येषान्ते तेषां = सत्पुरुषाणाम्, प्रकृतिसिद्धम् = प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं सम्पन्नम्, सहजमिति यावत्।

भा०—आपत्काल में धीरता रखना, समर्थ होने पर भी क्षमा रखना, सभा में बोलने में चतुर होना, युद्ध में शूर वीर होना, कीर्त्ति में रुचि होना, शास्त्रों में प्रेम होना, महापुरुषों के ये सब स्वभाव जन्मसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

अ०—सम्पदि यस्य हर्षो न (भवति), विपदि विषादो न (भवति), रणे च भीरुत्वं (न भवति); तं भुवनत्रयतिलकं सुतं (काचित्) जननी विरलं जनयति । व्या०—सम्पदि = सम्पत्तौ सत्याम् , यस्य = यज्जनस्य, हर्षः = आनन्दातिशयः, न भवति, विपदि=विपत्तौ सत्याम्, विषादः=खेदः अनुत्साहः, न भवति, अथ च रणे= संग्रामे सति, भीरुत्वं=भयशीलत्वम्, न भवति, तं=तादृशगुणयुक्तम्, अत एव भुवन-त्रयतिलकम्—भुवनानां=स्वर्गमर्त्यपातालानां त्रयं, तस्य तिलकः विशेषकः, तम्—त्रि-लोकश्रेष्ठमित्यर्थः। सुतं=पुत्रम्, काचित् जननी=माता, विरलं=स्तोकं यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् कदाचित् क्वचिदिति यावत् , जनयति=प्रसूते। आर्यावृत्तम्।

भा०—सम्पत्तिका लाभ होने पर जिसको हर्ष नहीं है, विपत्ति आने पर जिसको शोक नहीं है और युद्ध के मौके पर जिसको कुछ भी भय नहीं है, ऐसे गुणोंसे युक्त त्रिलोकपूज्य पुत्र को कभी कोई माता जन्म देती है ॥ ३७ ॥

अन्यच्च—**षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।**
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

अ०—इह भूतिमिच्छता पुरुषेण निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधः आलस्यं दीर्घसूत्रता (इति) षड् दोषाः हातव्याः। व्या०—इह=अस्मिन् संसारे, भूतिं=सम्पदम्—अभ्युदयम् इच्छता = वाञ्छता, पुरुषेण=जनेन, निद्रा=स्वापः, तन्द्रा=जाड्यम्, कार्याऽनुत्साहः, भयं=भीरुस्वभावः, क्रोधः = कोपनम् , आलस्यं=परिश्रमविधुरता, दीर्घं=चिरकालेन सूत्रम्=ईप्सितकार्यव्यवस्था यस्य सः, तस्य भावः, चिरक्रियतेति अर्थः। इति षट्-संख्याका दोषाः, हातव्याः = सर्वथा त्यक्तव्याः इति ।

भा०—इस संसार में अभ्युदयकी इच्छावाले लोग—'निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता'—इन छह दोषों का त्याग करें ॥ ३४ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम्—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादाय उड्डीयताम् ।

भा०—अब भी ऐसा करो कि हम सब एकचित्त होकर जाल को लेकर उड़ चलें।

यतः—**अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।**
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

अ०—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका (भवति, यथा) गुणत्वमापन्नैः तृणैः मत्तदन्तिनो बध्यन्ते। व्या०—अल्पानामपि=निर्बलानां क्षुद्राणां बहूनामपि, संहतिः=समुदायः मेलनम् , कार्यस्य साधिका कार्यसाधिका=महत्तरकार्यस्य सम्पादयित्री भवति। तत्र दृष्टान्तमाह—तृणैरिति। यथा गुणत्वं = रज्जुभावम्, आपन्नैः = प्राप्तैः, तृणैः = निर्बलैः तृणघासैः, मत्ताश्च ते दन्तिनः मत्तदन्तिनः = बहुबलाः करिणः, बध्यन्ते = नियम्यन्ते।

भा०—जैसे बहुत तृणों की बनाई हुई रस्सी मदोन्मत्त हाथी को बाँधती है। वैसे ही निर्बल तथा क्षुद्र चीजें भी मिलकर बड़े कार्य को सिद्ध करती हैं॥ ३५॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः॥ ३६॥

अ०—पुंसाम् अल्पकैः अपि स्वकुलैः सह संहतिः श्रेयसी, तुषेणापि परित्यक्ताः तण्डुलाः न प्ररोहन्ति। व्या०—पुंसां=जनानाम् , अल्पकैः अपि=निर्बलैः स्वल्पसङ्ख्याकैश्चापि, स्वकुलैः=स्वस्य कुलानि=ज्ञातिबान्धवाः, तैः, सह संहतिः = मेलनम् एकता श्रेयसी = कल्याणकरी भवति। तत्र व्यतिरेकिदृष्टान्तमाह—तुषेणेति। यथा तुषेण = क्षुद्रेणापि, तुषेण, परित्यक्ताः= वियुक्ताः, तण्डुलाः, न प्ररोहन्ति=न अङ्कुरम् उद्गमयितुं समर्था भवन्ति इति।

भा०—मनुष्यों को अपने थोड़े और निर्बल भी कुटुम्बिजनों से मेल रखना ही अच्छा है, क्योंकि चावल भी अपने छिलकों से अलग होने पर अङ्कुर को पैदा नहीं कर सकता॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः, अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तान् अवलोक्य पश्चाद्धावितोऽचिन्तयत्—

व्या०—सर्वे = समस्ताः, पक्षिणः=कपोताः, इति=उक्तप्रकारेण, विचिन्त्य = मन्त्रं कृत्वा, जालं = पाशम् , आदाय = नीत्वा, उत्पतिताः। अनन्तरम् = उड्डयनात् परम् , सः = पूर्वोक्तः, व्याधः, सुदूरात्=अतिदूरम् , जालस्य अपहारकान् , तान् = कपोतान् , अवलोक्य, पश्चात् = पृष्ठतः, धावितः सन् अचिन्तयत्।

भा०—ऐसी सलाह करके सब कबूतर जाल को लेकर उड़ गये, तब वह व्याध भी जाल लेकर जाते हुए कबूतरों को देखकर दूर तक पीछे-पीछे दौड़ता हुआ विचारने लगा—

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा॥ ३७॥

अ०—एते विहङ्गमास्तु संहताः मम जालं हरन्ति, तु यदा निपतिष्यन्ति, तदा मे वशम् एष्यन्ति। व्या०—एते, विहायसा आकाशेन गच्छन्तीति विहङ्गमाः = कपोतास्तु, संहताः = मिलिताः सन्तः, मम (व्याधस्य) जालं=पाशम् , हरन्ति=नीत्वा

पलायन्ते, तु=किन्तु, यदा भूतले निपतिष्यन्ति=अवतरिष्यन्ति, तदा मे (व्याधस्य), वशम्, एष्यन्ति=प्राप्स्यन्तीति।

भा०—ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को ले जा रहे हैं, लेकिन जब पृथिवी पर उतरेंगे तब अवश्य मेरे हाथ आ जायेंगे ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः। अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'स्वामिन्! किमिदानीं कर्तुमुचितम्?' चित्रग्रीव उवाच—

व्या०—ततः=अनन्तरम्, किन्तु इति यावत्, तेषु पक्षिषु=कपोतेषु, चक्षुषोर्विषयस्तम्=चक्षुर्ग्राह्यताम्, अतिक्रान्तेषु=अतीत्य गतेषु सत्सु, सः=धावन्, व्याधः निवृत्तः=जालाशामपि विहाय स्वस्थानं प्रति गतः। अथ=अनन्तरम्, ते कपोताः, लुब्धकं=व्याधम्, निवृत्तं दृष्ट्वा=प्रतिसृतमवलोक्य, ऊचुः=कपोतराजं पप्रच्छुः, स्वामिन्! (वृद्धसम्बोधने), इदानीम्=अस्मिन् समये, किं=कीदृशः व्यापारः, कर्तुम्=अनुष्ठातुम्, उचितं=योग्यः, तदा चित्रग्रीवः, उवाच=उक्तवान्।

भा०—लेकिन जब वे कबूतर अदृश्य हो गये, तब व्याध घर लौट गया। उसके बाद व्याध को लौटे हुए देखकर सब कबूतरों ने वृद्ध कबूतर से पूछा—स्वामिन्! अब क्या करना चाहिये? चित्रग्रीव ने जवाब दिया—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३८ ॥

अ०—माता मित्रं पिता च इति त्रितयं स्वभावाद् हितम् (भवति)। अन्ये च कार्यकारणतः हितबुद्धयः भवन्ति। व्या०—माता=स्वजननी, मित्रं=स्वाभाविकः सुहृत्, पिता=स्वजनकश्च, इति=एतत्, त्रितयं=त्र्यवयवम्, हितं=सर्वदा स्वभावत एव हितकरं भवति। अन्ये=एभ्यस्त्रिभ्य इतरे तु, कार्यं च कारणं च ताभ्याम्, केचित् कार्यवशात्, केचिच्च कारणवशात्, हितबुद्धयः=हिता बुद्धिर्येषान्ते हितकरा भवन्ति इति।

भा०—माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य-कारण रूपी स्वार्थ के लिए हितकारी बन जाते हैं ॥ ३८ ॥

तन्मे मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः, हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति।

व्या०—तत्=तस्मात्, मित्रस्य सदा हितकरत्वात्, मे मित्रं=मम गाढसुहृत्

'हिरण्यक' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मूषिकानां राजा इति मूषिकराजः 'गण्डकी' नाम नद्यास्तीरं तस्मिन्, चित्रं च तद् वनं च तस्मिन्, निवसति=वासं करोति। सः हिरण्यकः, अस्माकं=सर्वेषां कपोतानाम्, पाशान्=बन्धान्, छेत्स्यति=दन्तैः विदारयिष्यति, इति=इत्येवम् आलोच्य=विचार्य, सर्वे कपोताः, हिरण्यकस्य विवरं =बिलम्, तस्य समीपं=निकटम्, गताः। हिरण्यकः, सर्वदा=अनवरतम्. अपायस्य =नाशस्य विघ्नस्य मरणस्येति यावत्, शङ्का तया शतद्वारं=शतं द्वाराणि निर्गमनप्रवेशमार्गा यस्य तत् तादृशम्, विवरं=बिलं पृथिव्यन्तर्गतम्, कृत्वा, निवसति =निर्भयः सन् वसति।

भा०—इसलिए मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है, वह हम लोगों के बन्धनों को काटेगा। ऐसा विचार करके सब कबूतर हिरण्यक के निवासस्थान (बिल) पर गये। हिरण्यक भी सदा विघ्नों की शङ्का से सैकड़ों मुख का बिल बनाकर रहता है।

ततो हिरण्यकः कपोताऽवपातभयाच्चकितः तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक! कथमस्मान्न सम्भाषसे!' ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्य अब्रवीत्—आः! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः—

व्या०—ततः विवरं प्रति गमनानन्तरम्, हिरण्यकनामा मूषिकराजः, कपोतानाम् अवपातः=वेगात् पक्षशब्दसहितम् अवरोहणं, तस्माद् यद् भयं तस्मात्, चकितः सम्भ्रान्तः सन्त्रस्तः सन्, तूष्णीं=मौनम्, स्थितः=तस्थौ। ततः चित्रग्रीवानामा कपोतराजः, उवाच=उक्तवान्, सखे=मित्र! हिरण्यक! कथं=केन हेतुना, अस्मान्=नः कपोतान्, न सम्भाषसे=त्वं न सम्भावयसि, ततः=चित्रग्रीवोक्तिश्रवणानन्तरम्, हिरण्यकनामा मूषिकराजः, तस्य चित्रग्रीवस्य वचनं शब्दं, प्रत्यभिज्ञाय=ज्ञात्वा परीक्ष्य, ससम्भ्रमं—सम्भ्रमेण=आनन्दोत्साहेन सहितं यथा स्यात् तथा, विवरात् बहिःप्रदेशे, निःसृत्याऽब्रवीत=आगत्य उक्तवान्, आः (आश्चर्यार्थेऽव्ययम्) पुण्यवान्=पुण्यमस्ति अस्य पुण्यात्मा, अस्मि=भवामि, यद् मे= मम, प्रियसुहृत्=प्रीणातीति प्रियः शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृत्=प्रियश्चासौ सुहृच्चेति प्रियसुहृद्=गाढप्रेमास्पदं सखा चित्रग्रीवः समायातः=आगतः।

भा०—बिल पर कबूतरों के जाने के बाद कबूतरों के उतरने की आवाज से भयभीत होकर वह हिरण्यक चुपचाप हो रहा, तब चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक! हमसे क्यों नहीं बोलते हो? हिरण्यक अपने मित्र के उस वचन को पहचान कर बड़े आनन्द उत्साह के साथ बाहर आया और बोला—ओहो! मेरा पुण्योदय हुआ क्योंकि आज मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव आये हैं।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाषः, यस्य मित्रेण संस्थितिः, यस्य मित्रेण संलापः, (भवति) इह ततः पुण्यवान् नास्ति । व्या०—यस्य = जनस्य, मित्रेण = सुहृदा सह, सम्भाषः=सम्यग् वार्तालापः भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह, संस्थितिः= एकत्र वासः भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह संलापः=परस्पररहस्यविचारादिकं च भवति, इह = अस्मिन् संसारे, ततः = तस्माज्जनात् , पुण्यवान् = पुण्यशाली, अन्यः कश्चिदपि नास्तीति ।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता हैं, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

अथ पाशबद्धांश्चैतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच— सखे ! किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्म-कर्मणः फलमेतत्' ।

व्या०—अथ = बहिर्निःसरणानन्तरम् , एतान् = कपोतान् , पाशबद्धान् = पाशेन बद्धास्तान् , दृष्ट्वा, सविस्मयः = विस्मयेन आश्चर्येण सहितः सन् , क्षणं=क्षणमात्रम्, स्थित्वा=स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यकः) उवाच=उक्तवान् , सखे != मित्र ! चित्रग्रीव ! एतत् पाशबन्धनम् , किं = किं किमित्तं जातम् ? चित्रग्रीव उवाच= प्रत्युक्तवान्—सखे ! = मित्र हिरण्यक ! एतत् अस्माकं = सर्वेषां कपोतानाम् , प्राग्भवं प्राक्तनम् , प्राक्तनं च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृतं कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थः फलं = परिणामः अस्तीति ।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से बँधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला–मित्र चित्रग्रीव ! यह बन्धन कैसे हुआ ? चित्रग्रीव ने कहा–मित्र हिरण्यक ! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधातृवशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति । व्या०—यस्मात् = यत्कारणाच्च, येन = करणेन च, यथा = येन

प्रकारेण च, यदा = यस्मिन् काले च, यत् = यादृशं च, यावत् = यत्परिमाणं च, यत्र च = यस्मिन् स्थले च, शुभञ्च अशुभं च शुभाऽशुभं = पुण्यदं पापदं च, आत्मकर्म = आत्मनः स्वस्य कर्म कर्तव्यं भवति। विधातृवशात् = विधातुः वशः तस्माद् दिष्टाधीनतः, तस्माच्च कारणात्, तेन च करणेन, तथा च = तेन च प्रकारेण, तदा च = तस्मिंश्च काले, तावत् परिमाणं च, तत्र च स्थले, तत् = तादृशं शुभाऽशुभं कर्म, उपैति = उपस्थित भवति।

भा०—जिस कारण से, जिस करण से, जिस प्रकार से, जिस काल में, जैसा, जितना छोटा-बड़ा, जहाँ-जहाँ जो-जो शुभ वा अशुभ कर्म फल भोगना लिखा होता है, भाग्यवश से उस कारण से, उस करण से, उसी प्रकार से, उसी समय में वैसा ही छोटा या बड़ा उसी स्थल में वह शुभाऽशुभ कर्म, फलस्वरूप में परिणत हो के उपस्थित हो जाता है ॥ ४० ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्माऽपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ४१ ॥

अ०—रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि एतानि च देहिनाम् आत्मापराधवृक्षाणां फलानि (भवन्ति)। व्या०—रोगः = शारीरव्याधिश्च, शोकः=मानसिकचिन्ता च, परीतापः=नानाविधा वेदना च, बन्धनं=पाशादिनियन्त्रणा च व्यसनं=विपत्तिश्च स्त्रीरोगादयो वा, इति रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि, (इतरेतरद्वन्द्वः—'उपसर्गस्य दीर्घत्वं क्विबन्ताद्‌ौ क्वचिद्भवेत्' इति परेर्दीर्घता) एतानि=रोगादीनि, देहिनां= शरीरिणाम, आत्मापराधवृक्षाणाम्=आत्मनां स्वेषाम् अपराधाः - कृष्णकर्माणि ते एव वृक्षास्तरवस्तेषाम् फलानि = परिणामाः सन्तीति।

भा०—रोग, शोक, वेदना, बन्धन, व्यसन आदि आपत्तियाँ जो शरीरधारियों को होती हैं, वे सब अपने किये दुष्ट कर्म रूप वृक्ष के फल हैं ॥ ४१ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकः (सः मूषिकः) चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति, तत्र चित्रग्रीव उवाच—'मित्र! मा मैवं कुरु, (किन्तु) प्रथममस्मदाश्रितानामेतेषां तावत् पाशाँश्छिन्धि, मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि।' हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशाँश्छेत्तुं कथं समर्थो भवामि? तत् यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत् तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमप्येतेषां बन्धनं यावत् शक्यं छेत्स्यामि।' चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवं तथाऽपि यथाशक्ति बन्धनमेतेषां खण्डय।' हिरण्यकेन उक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिवेदिनां सम्मतम्।'

व्या०—एतत्=उक्तवाक्यम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, सः हिरण्यकनामा मूषिकः, चित्र-

ग्रीवस्य = कपोतराजस्य, बन्धनं = पाशनियन्त्रणम्, छेत्तुं = विदारयितुम्, सत्वरं = द्रुतम्, उपसर्पति = चित्रग्रीवस्य समीपे गच्छति, तत्र = तस्मिन् समये, चित्रग्रीवः = कपोतराजः, उवाच = उक्तवान्, मित्र ! = सुहृद् ! हिरण्यक ! मा मा = न हि न हि, एवं = प्रथमं मम बन्धनच्छेदनप्रयासम्, कुरु = विधेहि, किन्तु प्रथमं = पूर्वम्, अस्मान् आश्रिताः अस्मदाश्रितास्तेषाम् = अस्मद्रक्ष्याणाम् एतेषां कपोतानाम्, तावत् = साकल्येन, पाशान् = बन्धनानि, छिन्धि त्वं विदारय, पश्चात् = अनन्तरम्, मम (चित्रग्रीवस्य) बन्धनं = पाशम्, छेत्स्यसि = विदारयिष्यसि, हिरण्यकनामा मूषिकराजः, अपि, आह—ब्रवीति, अहम् अल्पशक्तिः = अल्पा लघ्वी शक्तिः सामर्थ्यं बलं यस्य सः, स्वल्पबलवान् भवामीति । किञ्च मे (हिरण्यकस्य) दन्ताः = दशनाः, कोमलाः, जर्जरिताश्च भवन्तीति तत् = तस्माद्धेतोः, एतेषां = सर्वेषां कपोतानाम्, पाशान् = बन्धनानि, छेत्तुं = विदारयितुम् कथं = केन प्रकारेण, समर्थः = क्षमः भवामि, तत् = तस्माद् असमर्थत्वाद्धेतोः, मे = मम, दन्ताः = दशनाः, यावत् = यावत्समयं, न त्रुटयन्ति = भग्ना न भवन्ति, तावत् = तदवधिकालम्, तव (ते चित्रग्रीवस्य) पाशं = बन्धनम्, छिनद्मि = अहं खण्डयामि, तदनन्तरं = ते बन्धनच्छेदनात् परम्, एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धनमपि यावत् शक्यम् = यावता यत्नेन छेत्तुं शक्यते तावत्, छेत्स्यामि = खण्डयिष्यामि, (एतच्छ्रुत्वा) चित्रग्रीवः = कपोतराजः, उवाच—एवम् अस्तु = यत् तवाऽभिमतं तदेव भवतु, तथाऽपि पूर्वम् एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धनं यथाशक्ति—शक्तिम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाशक्ति = यावच्छक्यं तावत्, खण्डय = त्वं विदारय, ततो हिरण्यकेन मूषिकराजेन उक्तम्—आत्मनः = स्वस्य परित्यागः = हतिः तेन = स्वविनिमयेनेत्यर्थः । आश्रितानाम् = अनुजीविनाम्, यत् परिरक्षणं = परित्राणम्, तत् नीतिवेदिनाम्—नीतिं विदन्ति इति नीतिवेदिनस्तेषां = नीतिज्ञानाम्, न सम्मतम् ।

भा०—यह सुनकर हिरण्यक नाम का चूहा चित्रग्रीव नामक कपोतराज के बन्धन को काटने के लिये शीघ्रता से जाता है । इतने में चित्रग्रीव ने कहा—मित्र ! ऐसा मत करो । प्रथम हमारे आश्रित इन सब कबूतरों के बन्धन काटो, पीछे मेरा बन्धन काटना, तब हिरण्यक ने कहा—मैं अल्पशक्ति वाला हूँ—और मेरे दांत निर्बल हैं, इसलिये इन सब के बन्धनों को कैसे काट सकूँगा, तो भी जब तब मेरे दांत नहीं टूटेंगे तब तक तुम्हारे (चित्रग्रीव के) बन्धन को काट डालूं, उसके बाद सबके बन्धनों को जहाँ तक बन सकेगा काटूंगा । तब चित्रग्रीव ने कहा—अच्छा वैसा ही सही; तो भी जहाँ तक बन सके, इन सबके बन्धनों को पहले काटो । तब हिरण्यक ने कहा—अपने को छोड़कर आश्रितों का रक्षण करना यह नीतिज्ञों का सम्मत नहीं है ।

यतः—आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अ०—आपदर्थे धनं रक्षेत्, धनैरपि दारान् रक्षेत्। दारैरपि धनैरपि आत्मानं सततं रक्षेत्।

व्या०—आपदां=दुर्भिक्षादिविपदाम् अर्थः=निवारणं तस्मिन्, आपत्तिपरिहारार्थेऽत्यर्थः। धनं=रूप्यसुवर्णादिकम्, रक्षेत्=संगृह्य कोषे स्थापयेत्, धनैरपि=अर्थैः सुवर्णादिभिरपि, सर्वस्वविनिमयेनाऽपीति यावत्। दारान्=विपन्नां स्त्रियम्, रक्षेत्=त्रायेत, दारैरपि धनैरपि च=दारधनादिविनिमयेन च, आत्मानं=स्वम्, सततं=नित्यकालम्, रक्षेत्=त्रायेतेति।

भा०—दुर्भिक्ष आदि आपत्तियाँ दूर करने के लिये धन का संग्रह करना और धनको भी छोड़ कर विपत्ति में पड़ी हुई स्त्री की रक्षा करना और स्त्री तथा धन दोनों को छोड़ कर भी आपत्तिग्रस्त अपनी (आत्माकी) रक्षा करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—**धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।**
तान् निघ्नता किन्न हतं ? रक्षता किं न रक्षितम् ॥ ४३ ॥

अ०—प्राणाः धर्मार्थकाममोक्षाणां संस्थितिहेतवः (भवन्ति) तान् निघ्नता किं न हतम् (भवति) रक्षता (च) किं न रक्षितं (भवति)। व्या०—प्राणाः=असवः, स्वजीवनमिति यावत्। धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषां चतुर्णां पुरुषार्थानामित्यर्थः। संस्थितिहेतवः–संस्थितेः=संरक्षणस्य हेतवः=कारणानि, भवन्ति। तान्=प्राणान्, निघ्नता=विनाशयता जनेन, किं=किं वस्तु, न हतं=न विनाशितं भवति ? तान् प्राणान् रक्षता=पोषयता च जनेन, किं वस्तु, न रक्षितम्? अर्थात् सर्वमेव रक्षितमिति।

भा०—प्राण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के कारण हैं, इसलिये प्राण के नाश करने वालों ने क्या नाश नहीं किया ? अर्थात् सब कुछ नाश किया और प्राण (जीवन) का रक्षण करने वालों ने किस चीज का रक्षण नहीं किया ? अर्थात् सबका रक्षण किया है ॥ ४३ ॥

चित्रग्रीव उवाच—सखे ! नीतिस्तावत् ईदृश्येव, किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थस्तेनेदं ब्रवीमि।

व्या०—चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच=उक्तवान्, सखे !=मित्र ! हिरण्यक ! (तावत् वाक्यालङ्कारे) नीतिः, ईदृशी=इयमिव दृश्यते इति ईदृशी, भवता यादृशी कथ्यते स्वविनिमयेन आश्रितरक्षणम् अन्याय्यमित्येतादृशी, एवकारः निश्चयार्थकः किन्तु=परन्तु, अहम्, अस्माकम् आश्रितास्तेषाम्=एतेषां कपोतानाम्, दुःखं सोढुम् सर्वथा=सर्वप्रकारेण, असमर्थः=समर्थो न भवामि, तेन हेतुना, इदम्= 'अस्मदाश्रितानां बन्धनं प्राक् छिन्धि' इति वचनम्, ब्रवीमि=कथयामि।

भा०—चित्रग्रीव बोला--मित्र हिरण्यक ! नीति तो तुमने कही वैसी ही है, लेकिन क्या करूँ, अपने अनुजीवियों के कष्ट को सहन करने के लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इस लिये ऐसा बोल रहा हूँ ।

यतः—धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

अ०—प्राज्ञः परार्थे एव धनानि जीवितञ्च उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति सन्निमित्ते त्यागः वरम् । व्या०—प्राज्ञः = प्रज्ञ एव प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, परार्थे = परेषाम् अर्थः प्रयोजनं तस्मिन्, परकार्यसिद्ध्यर्थम्, धनानि = रूप्यकादीनि, जीवितञ्च= आत्मप्राणांश्च, उत्सृजेत्=त्यजेत् । कुतः ? इत्याह–विनाशे=धनस्य विनाशे, जीवितस्य च मरणे, नियते सति = निश्चिते सति, सन्निमित्ते-सत् = शोभनम्, उत्तमं निमित्तं-कारणं परोपकाररूपं तस्मिन्, सत्कार्यसिद्धावित्यर्थः । त्यागः=धनजीवितयोर्विसर्जनम्, वरम् = ईषत्प्रियं भवतीति ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य परोपकारमें ही अपने धन तथा जीवन का उपयोग करें, क्योंकि धन तथा जीवनका नाश कभी न कभी जरूर होगा, इससे सत्कार्यमें लगाना अच्छा है ॥४४॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

व्या०—अयं=वक्ष्यमाणप्रकारः, अपरः=द्वितीयोऽपि, असाधारणः=न साधारणः असाधारणः-मुख्यः, हेतुः = कारणं भवतीति—

भा०—यह भी एक दूसरा मुख्य कारण है--

जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद् भविष्यति ॥ ४५ ॥

अ०—मया सह एषां जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यम्, (भवति) तद् ब्रूहि, मत्प्रभुत्वफलं किं कदा भविष्यति ? व्या०—मया = चित्रग्रीवेण, सह, एषाम् = एतेषां सर्वेषां कपोतानाम्, जातिः=कपोतत्वम्, द्रव्यं = पक्षचञ्च्वादिसम्पत्, बलं=शक्तिः सामर्थ्यं, तेषाम्, चकारेण सहवासादीनां संग्रहः । साम्यम्=एकरूपता अस्ति । तत्= तर्हि एवं सति, ब्रूहि = कथय, मम प्रभुत्वं मत्प्रभुत्वं तस्य फलं = मम आधिपत्यस्य कर्तव्यफलम्, किं=किंरूपम्, कदा = कस्मिन् समये, भविष्यति, नैव भविष्यतीति ।

भा०—मेरे साथ इन सब के जाति, सम्पत्, बल ये सब बराबर हैं, मेरे में इन सबका आधिपत्य ही अधिक है । अब कहिये अगर मैं इनका इस वक्त रक्षण न करूँ, तो दूसरा आधिपत्य का कौन सा फल होगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ४६ ॥

अ०—एते वर्तनं विना ममाऽन्तिकं नैव त्यजन्ति, तद् मे प्राणव्ययेनाऽपि एतान् ममाश्रितान् जीवय। व्या०—एते=इमे सर्वे कपोताः, वर्तनं=वृत्तिं, विना=ऋते, मम अन्तिकं=सन्निधिम्, नैव त्यजन्ति=मुञ्चन्ति, तत्=तस्माद् हेतोः, मे=मम, प्राणानां व्ययः विनिमयस्तेन, अपि, एतान् मम आश्रितान्=मदनुजीविनः सेवारक्तान् कपोतान्, जीवय=त्वं प्रथमं रक्ष।

भा०—ये सब कबूतर वेतन नहीं लेते, तो भी मेरा साथ नहीं छोड़ते हैं, इसलिये मेरे जीवन के बदले से भी मेरे आश्रित इन सब की रक्षा करो॥ ४६॥

किञ्च—मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरितेऽत्र कलेवरे।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र मे॥ ४७॥

अ०—मित्र! मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरिते विनश्वरे अत्र कलेवरे आस्थां विहाय, मे यशः पालय। व्या०—हे मित्र!=हे सखे!, मांसं च=पिशितञ्च, मूत्रं च पुरीषं च अस्थि च तैः पूरितं पूर्णं तस्मिन्, विनश्वरे=नाशशीले, अत्र=अस्मिन्, कलेवरे=देहे आस्थां=ममताम् आदरम्, विहाय=परित्यज्य, मे=मम, यशः=स्वानुजीविरक्षणात्मिकां कीर्तिम्, पालय=रक्ष। मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिनिर्मितेऽत्रेति पाठान्तरम्।

भा०—हे मित्र! मांस, मूत्र, मल, हड्डियाँ इन सबसे भरे हुए इस क्षणिक शरीर में ममता का त्याग कर मेरे शरणागतरक्षणरूप यश का रक्षण करो॥ ४७॥

अपरञ्च पश्य—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम्॥ ४८॥

अ०—यदि अनित्येन मलवाहिना कायेन नित्यं निर्मलं यशः लभ्येत, नु तत् किं लब्धं न भवेत्? व्या०—यदि=चेत्, न नित्यम् अनित्यं तेन=विनाशिना, मलानि वहतीति मलवाही, तेन=मूत्रपुरीषादिपूर्णेनाऽशुद्धेन, कायेन=शरीरेण नित्यम्=अविनाशि, ध्रुवम्, निर्मलं=विशुद्धम्, यशः=कीर्तिः, लभ्येत=जनैः प्राप्येत, 'नु पृच्छायां विकल्पे च' इत्यमरः। नु=भोः हिरण्यक! तत्=तर्हि, किं वस्तु, न लब्धं= जनैः कः पदार्थो न प्राप्तः, अर्थात् सर्वोऽपि लब्ध इति।

भा०—अगर अनित्य तथा मलवाही अशुद्ध शरीर से नित्य और विशुद्ध यश मिले, तो क्या नहीं मिला अर्थात् सब कुछ मिला॥ ४८॥

यतः—शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥ ४९॥

अ०—शरीरस्य गुणानाञ्च अन्तरम् अत्यन्तं दूरं (भवति), शरीरं क्षणविध्वंसि (भवति), गुणाः कल्पान्तस्थायिनः (भवन्ति)। व्या०—शरीरस्य=कायस्य, गुणानां= धर्मज्ञानवैराग्यभक्तियशउदयादीनाञ्च, अन्तरं=प्रभेदः विरूपता, अत्यन्तम्=अतिशयेन, दूरम्=अधिकम्, महदन्तरमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—शरीरमिति। शरीरं=कायः,

क्षणविध्वंसि = क्षणेन अकस्माद् विध्वंसते नश्यति, क्षणभङ्गुरमित्यर्थः । धर्मादयो गुणास्तु कल्पान्तस्थायिनः = कल्पस्य महाप्रलयस्य अन्तः शेषस्तं यावत् तिष्ठन्ति इति कल्पान्तस्थायिनः, महाप्रलयपर्यन्तं स्थितिमन्त इत्यर्थः ।

भा०—शरीर और गुणों में महान् विभेद है, क्योंकि शरीर तो अकस्मात् क्षणमात्र में नष्ट होने योग्य है और धर्मादि गुण तो महाकल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन् अब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते' । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं सम्पूज्य आह—सखे चित्रग्रीव ! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ सति दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्तव्या ।

व्या०— हिरण्यकः, इति = चित्रग्रीवस्य इत्येवं वचनम्, आकर्ण्य, प्रहृष्टमनाः = प्रहृष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य सः तादृशः, अत एव च पुलकितः=पुलकाः रोमाञ्चाः सञ्जाता अस्येति पुलकितः रोमाञ्चगात्रः सन्, अब्रवीत्, हे मित्र ! साधु साधु = त्वया शोभनमुच्यते, अनेन आश्रितवात्सल्येन = आश्रितेषु वात्सल्य स्नेहाऽतिशयस्तेन, त्रैलोक्यस्याऽपि = त्रयाणां लोकानां समाहारः, त्रिलोकी, (समाहारद्विगुः ईप् च) त्रिलोकी एव त्रैलोक्यं तस्य अपि, प्रभुत्वं=स्वामित्वम्, त्वयि=भवति, युज्यते=युक्तं भवति, तेन=हिरण्यकेन, एवमुक्त्वा=इत्थंप्रशंसावाक्यमभिधाय, सर्वेषां कपोतानां, बन्धनानि=पाशाः, छिन्नानि=विदारितानि, ततो हिरण्यकः सर्वान्=अशेषान् कपोतान्, सादरम् = आदरेण सहितं यथा स्यात् तथा, सम्पूज्य = सम्यक् पूजयित्वा, आह = उक्तवान्, सखे ! चित्रग्रीव ! अत्र = एतस्मिन्, जालबन्धनविधौ सति = जालेन बन्धनं तस्य विधिः भवनम्, तस्मिन् सति, दोषं=स्वस्य अविमृश्यकारितारूपमपराधम्, आशङ्क्य = विचिन्त्य, आत्मनि=स्वस्मिन्, अवज्ञा=स्वस्याऽनादरः, न कर्तव्या त्वया इति ।

भा०—चित्रग्रीव का वचन सुनकर हिरण्यक आनन्दित और पुलकित होकर बोला—हे मित्र चित्रग्रीव ! तुमने ठीक कहा, आश्रितों पर इस प्रकार के वात्सल्य से तुम्हारे में त्रिलोकी के प्रभुत्व की योग्यता है, ऐसा कहकर उस हिरण्यक ने सब कबूतरों के बन्धनों को काट डाला । उसके बाद हिरण्यक आदरपूर्वक सब कबूतरों की पूजा करके बोला—मित्र चित्रग्रीव ! इस जाल के बन्धन में अपने अविचार्यकारितारूप अपराध को मानकर आत्मा के प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं करना ।

यतः—योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं खगः ।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

अ०—इह यः खगः योजनशतात् अधिकाद् आमिषं पश्यति, स एव प्राप्तकालस्तु

पाशबन्धं न पश्यति। व्या०—इह=अस्मिन् लोके, यः खगः—खे = आकाशे गच्छति इति खगः = श्येनपक्षी, योजनशतात् = योजनानां शतं तस्मात्, अधिकात्=अधिकदूरात्, शताऽधिकयोजनमपि दूरे स्थित्वाऽपि इत्यर्थः। आमिषं=भक्ष्यं मांसादिकम्, पश्यति = अवलोकयति, किन्तु स एव श्येनः, प्राप्तकालस्तु = प्राप्तः प्रत्यासन्नः कालः (मृत्युः) अन्तको यस्य सः तादृशः सन्, तु = पुनः, पाशस्य बन्धस्तम् = व्याधविस्तीर्णजालम्, न पश्यति = नाऽवलोकयतीति।

भा०—इस जगत् में श्येन (बाज) पक्षी सौ योजन पर की दूरी से भी भक्ष्य पदार्थ मांसादि को देखता है, किन्तु जब उसकी मृत्यु निकट आती है तब वह सामने स्थित जाल को भी नहीं देख सकता ॥ ५० ॥

अपरञ्च—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

अ०—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं च मतिमतां दरिद्रतां विलोक्य मे मतिः (भवति) 'अहो! विधिः बलवान्' इति।

व्या०—शशः चिह्नरूपः अस्ति यस्य इति शशी चन्द्रमाः दिवाकरः सूर्यस्तयोः, ग्रहपीडनम् ग्रहेण=राहुणा पीडनम्=ग्रसनम्। गजभुजङ्गमयोः = गजः हस्ती भुजङ्गमः = सर्पस्तयोरपि = लीलया बहुप्राणिनाशसमर्थयोरपि तयोः बन्धनं= शृङ्खलेन मन्त्रादिना च संयमनम्। मतिमतां—मतिः=आगामिगोचरा धीः अस्ति एषामिति मतिमन्तस्तेषां = विदुषामित्यर्थः। दरिद्रस्य भावः दरिद्रता ताम् = अकिञ्चनतां च विलोक्य = दृष्ट्वा, स्थितस्य, मे = मम, मतिः = धीः, अहो ! = आश्चर्ये, विधिः = दैवम्, बलवान् = प्रबलः सर्वनियामकम्, इति = इत्याकारिका, भवति। द्रुतविलम्बितवृत्तम्।

भा०—चन्द्र तथा सूर्य को भी ग्रह (राहु) कृत पीड़ा देखकर, हाथी तथा साँप को शृङ्खला तथा मन्त्रों से बन्धन देखकर और विद्वान् होने पर भी दरिद्रता देखकर—मुझे निश्चय होता है कि-सबका प्रारब्ध (भाग्य) बलवान् है ॥ ५१ ॥

अन्यच्च—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहाऽस्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ ४२ ॥

अ०—व्योमैकान्तविहारिणः अपि विहगाः आपदं सम्प्राप्नुवन्ति, निपुणैः अगाधसलिलात् समुद्राद् अपि मत्स्याः बध्यन्ते। इह किं दुर्नीतम् अस्ति? किं सुचरितम्? स्थानलाभे कः गुणः (अस्ति)? हि व्यसनप्रसारितकरः कालः दूरादपि गृह्णाति। व्या०—व्योम्नः=गगनस्य एकान्तः एकः अन्तः उपरिभागस्तस्मिन्

विहरन्ति इति व्योमैकान्तविहारिणः = गगनगामिन इत्यर्थः । तादृशा अपि विहगाः=पक्षिणः, आपदं=विपत्तिपाशबन्धनादिरूपाम्, सम्प्राप्नुवन्ति=अधिगच्छन्ति । निपुणैः = मत्स्यवधनिष्णातैः, अगाधसलिलात्—अगाधानि=अतलस्पर्शानि सलिलानि=जलानि यस्मिन् सः तस्मात् = तादृशादपि समुद्रात्=पारावारात्, मत्स्याः= मीनाः, बध्यन्ते=ध्रियन्ते । इह = अत्र संसारे, किं दुर्नीतं = किं दुश्चरितम् अस्ति, (किं प्रश्ने) । किं च सुचरितं = सुनीतिः अस्ति ? स्थानलाभे = स्थानस्य निष्पाशप्रदेशस्य लाभः प्राप्तिः तस्मिन् सति, वा कः गुणः अस्ति ? हि = यस्मात्, व्यसनप्रसारितकरः—व्यसने विपदि प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ येन सः तादृशः, कालः = मृत्युः, दूरादपि, गृह्णाति = स्वग्रासतां प्रापयति ।

भा०—केवल आकाश में विहार करने वाले निरपराध पक्षी भी आपत्तियों को पाते हैं, धीवर लोग अगाध समुद्र से भी निरपराध मत्स्यों को पकड़ लेते हैं, तो फिर इस जगत में क्या सुनीति और क्या दुर्नीति ! दोनों में कुछ भेद मालूम नहीं पड़ता और उत्तमस्थान मिलने पर भी क्या लाभ है ? क्योंकि काल (मृत्यु) विपत्ति रूप हाथों को फैलाकर दूर से ही सबको पकड़ लेता है ॥ ५२ ॥

इति प्रबोध्य आतिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन संप्रेषितश्चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ, हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

व्या०—इति=इत्थम्, तेन हिरण्यकेन, प्रबोध्य=आश्वासनं विधाय, आतिथ्यं = न तिष्ठति भोजनादिकम् एकस्थले इति अतिथिः, तस्य सेवा आतिथ्यम्, कृत्वा = विधाय, आलिङ्ग्य = आश्लिष्य, सम्प्रेषितः = विसृष्टः, चित्रग्रीवनामा कपोताऽधिपः, परिवारेण सहितः सपरिवारः, यथेष्टदेशान्=स्वाभिमतप्रदेशान् प्रति, ययौ=जगाम, हिरण्यकनामा मूषिकराजोऽपि स्वस्य विवरं स्वविवरम्, प्रविष्टः ।

भा०—हिरण्यक ने ऐसी सान्त्वना देकर और अतिथिसत्कार करके आलिङ्गन (परस्पर मिल) कर चित्रग्रीव को बिदा किया, चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ स्वेच्छित देशों के प्रति गया, हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया ।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥ ५३ ॥

अ०—(जनेन) यानि कानि शतानि मित्राणि च कर्तव्यानि, कपोताः मूषिकमित्रेण मुक्तबन्धनाः, (बभूवुः) पश्य । व्या०—यानि कानि च=यादृशानि तादृशानि नीचानि महान्ति वा, शतानि=बहुशतसङ्ख्याकानि, मित्राणि=सखायः, कर्तव्यानि = जनैः विधेयानि । कपोताः=बहवः पारावताः, मूषिक एव मित्रं तेन=बुन्द्रेण उन्दुरुमित्रेण, मुक्तबन्धनाः=मुक्तं छिन्नं जालस्य बन्धनं येषान्ते, तादृशाः, बभूवुः, पश्य=तदेतद् अवलोकय ।

भा०—छोटे या बड़े बहुत से मित्र करने चाहिये, क्योंकि देखिये सब कबूतर चूहारूप मित्र से भी बन्धन से मुक्त हो गये ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यम् इदमाह-'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि, अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीं कर्त्तुमिच्छामि, अतस्त्वं मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि' एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराऽभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते-लघुपतनकनामा वायसोऽहम् । हिरण्यको विहस्याऽऽह—का त्वया सह मैत्री ?

व्या०—अथ=अनन्तरम्, सर्ववृत्तान्तदर्शी=सर्वं च तत् वृत्तान्तं च सर्ववृत्तान्तं तत् पश्यति इति सर्ववृत्तान्तदर्शी-चित्रग्रीवहिरण्यकयोर्जालमोचनरूपवृत्तान्तं प्रत्यक्षीकुर्वन्, 'लघुपतनक'नामा काकः=वायसः, साश्चर्यम्=आश्चर्येण सहितं यथा स्यात् तथा, इदं=वक्ष्यमाणवचनम्, आह=उक्तवान्, अहो ! (आश्चर्यद्योतकमव्ययम्)। हे हिरण्यक ! त्वं श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, असि=भवसि। अतः=अस्मात् हेतोः, अहम् (वायसः) अपि, त्वया (हिरण्यकेन) सह, मैत्रीं=सौहार्दं बन्धुत्वम्, कर्तुम् इच्छामि=वाञ्छामि । अतः=अस्मात् हेतोः, त्वं=भवान्, माम् (वायसमपि), मैत्र्येण=मित्रभावेन, अनुग्रहीतुम्=अनुग्रहं कर्तुम्, अर्हसि=योग्योऽसि, मां मित्रं कृत्वा कृतकृत्यं कुरु इति भावः । हिरण्यकः (उन्दुरुः) अपि, एतत्=काकोक्तम्, श्रुत्वा=सम्यगाकर्ण्य, विवरस्य अभ्यन्तरम्, तस्मात्=विवरमध्यत एव, आह=उक्तवान्, त्वं=भवान् कः=नाम्ना जात्या च को व्यक्तिविशेषः असि ? सः वायसः, ब्रूते=कथयति, अहम् 'लघुपतनक'नामा वायसः=काकजातीयः अस्मि । तदा हिरण्यकः, विहस्य=हास्यं कृत्वा, आह=उवाच, त्वया (काकेन) सह, मैत्री=मित्रता, का ?=किंरूपा स्यात् ? दुष्टेन वायसेन सह मैत्री न युक्तेत्यर्थः ।

भा०—उसके बाद सब वृत्तान्त को देखने वाला लघुपतनक नामक कौवा आश्चर्यपूर्वक इस प्रकार बोला—'हे मित्र हिरण्यक !' तुम प्रशंसा के योग्य (श्रेष्ठ व्यक्ति) हो, इसलिये मैं भी तुमसे मैत्री करना चाहता हूं, मित्रता से मुझको अनुगृहीत करो । हिरण्यक (चूहा) भी ऐसा सुनकर बिल के भीतर से ही बोला—'तू कौन है ?' काक बोला—'मैं लघुपतनक नाम का कौवा हूँ !' तब हिरण्यक हँस कर बोला—'तुम्हारे साथ मित्रता कैसी ?'

यतः—यद् येन युज्यते लोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥ ५४ ॥

अ०—लोके येन यत् युज्यते, बुधः तत् तेन सह योजयेत्, अहम् अन्नम् (अस्मि) भवान् भोक्ता (अस्ति), प्रीतिः कथं भविष्यति ? व्या०—लोके=संसारे, येन व्यक्तिविशेषेण सह, यत्=यो व्यक्तिविशेषः, युज्यते=योजयितुं युक्तो भवति, बुधः=धीमान् जनः, तत्=व्यक्तिविशेषं, तेन=योग्यव्यक्तिविशेषेण सह, योजयेत्=

अहं मूषिकः, अन्नं= काकस्य भक्ष्यम् अस्मि, भवान्=च काकः, मम मूषिकस्य भोक्ता=अत्ता अस्ति। तथा च आवयोः, भक्ष्यभक्षकयोः, प्रीतिः=सौहार्दं, कथं केन प्रकारेण, भविष्यति=सम्पत्स्यते ?-न कथमपीत्यर्थः।

भा०—संसार में जो जिसके साथ जोड़ने योग्य होता है, बुद्धिमान् जन उसी के साथ उसको जोड़ता है। मैं (चूहा) तेरा (काक का) खाद्य (भोजन) हूँ और तू (काक) मुझ को (चूहे को) खाने वाला है। तब कैसे प्रीति हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥५४॥

अपरञ्च—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेः कारणं मतम्।
शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥५५॥

अ०—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः विपत्तेः कारणं मतम्, (भवति) शृगालात् पाशबद्ध असौ मृगः काकेन रक्षितः। व्या०—भक्षितुं योग्यः भक्ष्यः, भक्ष्यश्च भक्षकश्च तयोः=खाद्यखादकयोः, प्रीतिः सौहार्दं, कदाचित् अवश्यम्, आपत्तेः=आकस्मिकविनाशस्य, कारणं=निमित्तम् असाधारणहेतुः, मतं=विदुषां सम्मतमस्तीति। विपत्तेरेव (कारणमिति पाठान्तरम्) तथा हि—शृगालात्=भक्षककपटमित्रात् जम्बुकात् पाशेन जालेन बद्धः नियमितः, असौ=अयोग्यमित्रभावदृष्टान्ततया स्मरणविषयीभूतः, मृगः=भक्ष्यनिष्कपटहरिणः, काकेन=केनचित् वायसेन बन्धुरूपेण, रक्षितः=पाशादुन्मोचितः।

भा०—भक्ष्य और भक्षक इन दोनों की प्रीति विपत्ति में हेतु बन जाती है, जैसे मित्र शृगाल द्वारा जाल में फँसाये गये मृग को कौआ ने बचाया ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—कथमेतत् ? हिरण्यकः कथयति—

भा०—लघुपतनक नाम का कौवा बोला—'शृगाल द्वारा फँसाये गये मृग को काक ने मुक्त किया' यह कथा किस प्रकार है। हिरण्यक कहता है—

कथा २

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी। तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचित् शृगालेनाऽवलोकितः। तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—आः! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र! कुशलं ते ?' मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाकी निवसामि, इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि, अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति'। मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु'।

व्या०—मगधदेशे=मगधाख्ये जानपदे, चम्पकवती—चम्पकवतीनाम्ना प्रसिद्धा, अरण्यानी=महारण्यम् (महत्त्वार्थे ङीप् आनुक् च), अस्ति=विद्यते। तस्याम्=अरण्यान्याम्, मृगश्च काकश्च तौ=हरिणवायसौ उभौ, चिरात्=बहुसमयात्, महता=गाढेन परमेण, च स्नेहेन=प्रेम्णा, प्रेमपूर्वकौ इत्यर्थः। निवसतः=वासं कुरुतः। हृष्टपुष्टाङ्गः=हृष्टानि पुष्टानि च अङ्गानि यस्य सः=पुलकितमांसपूर्णशरीरः इत्यर्थः। स्वेच्छया=स्वस्य (मृगस्य) इच्छा=अभिलाषः तया, भ्राम्यन्=भ्राम्यति इति भ्राम्यन्=भ्रमणं कुर्वन्, स च मृगः=पूर्वोक्तः स हरिणः, केनचित्=येन केनाऽपि अपरिचितेन, शृगालेन=जम्बुकेन, अवलोकितः=दृष्टः। शृगालः=जम्बुकः, तं=मृगम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, अचिन्तयत्=चिन्तनं कृतवान्, आः=आश्चर्यम्! कथं=केन प्रकारेण, सुललितम्=अतिरमणीयं मधुरस्वादु। एतन्मांसम्=एतस्य मृगस्य मांसं=पिशितम्, भक्षयामि=अश्नामि। भवतु=अस्तु—एतत्कर्तव्यमित्यर्थः। तावत्=प्रथमम्, विश्वासं=मां शृगालं प्रति अस्य हरिणस्य विश्वासभावम्, उत्पादयामि=अहं जनयामि, इति=इत्येवम्, आलोच्य=विचिन्त्य, उपसृत्य=मृगसमीपे गत्वा, अब्रवीत्=सः शृगालः उक्तवान् मित्र! सखे हरिण! ते=तव, कुशलं=क्षेमम् वर्तते? तेन मृगेण उक्तम्—त्वम् (प्रश्नकर्ता) कः=को व्यक्तिविशेषोऽसि? सः=शृगालः, ब्रूते=कथयति, अहं 'क्षुद्रबुद्धि'नामा—क्षुद्रा=स्वल्पा बुद्धिर्विचारशक्तिर्यस्य सः इति, क्षुद्रबुद्धिः=स एव नाम यस्य सः इति क्षुद्रबुद्धिनामा, जम्बुकः=शृगालः, अस्मि, अत्रारण्ये=एतस्मिन् वने, बन्धुहीनः—बन्धुभिः=मित्रैः हीनः=रहितः सन्, एकाकी=अद्वितीय एव, मृतवत्=मृत इव, निवसामि=वासं करोमि, इदानीम्=अधुना, त्वाम्=भवन्तम् मित्रम्=बन्धुम्, आसाद्य=प्राप्य, सबन्धुः=बन्धुना सहितः पुनः जीवानां संसारिणां लोकः=स्थितिः त, मित्रलाभप्रयुक्तसुखस्थितिमित्यर्थः। प्रविष्टोऽस्मि=लब्धो भवामि, अधुना=साम्प्रतम्, तव (हरिणस्य) अनुचरेण=सेवकेन सहचरेण वा, मया (शृगालेन) सर्वथा भवितव्यमिति। मृगेण=हरिणेन, उक्तम्=अभिहितम्, एवं=यथा त्वं कथयसि तथा अस्तु=अनुचरो भूत्वा सहनिवासी भव।

भा०—'मगध' देशमें चम्पकवन नाम का बड़ा अरण्य है, उस अरण्यमें बहुत समयसे हरिन और कौवा ये दोनों गाढ़ प्रेम से रहते थे, स्वेच्छा से घूमते फिरते हृष्टपुष्टाङ्ग उस मृग को किसी शृगाल ने देखा। मृग को देखकर शृगाल ने सोचा—'आ! हा! यह सुन्दर मांस कैसे खाने को मिले? अच्छा, प्रथम उसको विश्वास दूं, ऐसा विचारकर सामने जाके बोला–मित्र हरिन! तुम कुशल से हो? मृग बोला–'तुम कौन हो? शृगाल बोला–मैं क्षुद्रबुद्धि नाम का शृगाल हूं और इस वन में संग-साथ रहित एकाकी मृत सदृश होकर बसता हूं, लेकिन अब तुम जैसे मित्र को पाकर फिर मित्रसहित होता हुआ जीवलोक की स्थिति में प्रविष्ट हुआ हूँ, अब तुम्हारा अनुचर बनकर मैं तुम्हारे साथ ही रहूंगा। मृग बोला—अच्छा, ऐसा ही हो।

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति, तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता, तन्न भद्रमाचरितम्'।

व्या०—ततः पश्चात् = तदनन्तरम्, भगवति = ऐश्वर्यवति, मरीचिमालिनि = मरीचीनां किरणानां माला = मण्डलम् अस्ति अस्य इति मरीचिमाली तस्मिन्, सवितरि = सूर्ये, अस्तम् = अस्ताद्रिं गते याते सति = सायङ्काले, तौ=मृगश्रृगालौ, मृगस्य वासभूमिं=निवासस्थानम् गतौ=जग्मतुः, तत्र=तस्यां वासभूमौ, 'चम्पक'-वृक्षस्य शाखा तस्याम्, मृगस्य चिरमित्रम्=चिरकालीनः सखा, 'सुबुद्धि'नामा = शोभना बुद्धिर्यस्य सः, सुबुद्धिः नाम यस्य सः इति सुबुद्धिनामा, काकः = वायसः निवसति = वासं करोति, तौ मृगश्रृगालौ, दृष्ट्वा = अवलोक्य, काकः अवदत् = उवाच, सखे! मित्र! चित्राङ्ग!, अयम्=एष उपस्थितः, द्वितीयः = अपरः, कः = नाम्ना जात्या च कोऽस्ति? मृगः = स हरिणः, ब्रूते = कथयति, अयं जम्बुकः = श्रृगालः, आवयोः, सख्यं = मित्रताम्, इच्छन्=अभिलषन्, आगतः अस्ति, काकः= स वायसः, ब्रूते, मित्र चित्राङ्ग! अकस्मात् = विना परीक्षणं झटिति, आगन्तुना सह = नूतनाऽऽगतेन अज्ञातकुलस्वभावेन सह, मैत्री = सख्यम्, न युक्ता = न योग्या, तत् = तस्मात् हेतोः, त्वया भद्रं=क्षेमकरं, न आचरितम् = न अनुष्ठितम्।

भा०—उसके बाद भगवान् किरणमण्डलयुक्त सूर्य के अस्त हो जाने पर वे (श्रृगाल-मृग) दोनों मृग के निवासस्थल में गये उस निवासस्थल में चम्पा के वृक्ष की शाखा पर मृग का प्राचीन मित्र सुबुद्धिनाम का कौवा रहता था, उन दोनों (श्रृगाल-मृग) को देख कर बोला-मित्र चित्राङ्ग! यह दूसरा कौन है? मृग बोला-यह जम्बुक है और अपने दोनों से मित्रता करने को आया है। काक बोला-मित्र चित्राङ्ग! एकदम अनजान व्यक्तिसे मित्रता करना उचित नहीं है, इसलिये तुमने यह ठीक नहीं किया।

तथा चोक्तम्—अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५६॥

अ०—अज्ञातकुलशीलस्य कस्यचित् वासो न देयः, हि मार्जारस्य दोषेण जरद्गवः गृध्रः हतः। व्या०—कुलं = शीलञ्च कुलशीले, न ज्ञाते अज्ञाते, अज्ञाते कुलशीले यस्य सः तस्य=अपरिचितवंशस्वभावस्येत्यर्थः, कस्यचित् अपि व्यक्तेः, वासः= स्वगृहे आश्रयः, न देयः = न दातव्यः। हि = यतः, मार्जारस्य = कस्यचित् अपरि-

चितस्य बिडालस्य, दोषेण = अपराधेन निमित्तभूतेन, जरद्गवः = जरन्तौ जीर्णौ गावौ दृशौ यस्य सः दृष्टिहीनो वृद्धः जरद्गवनामा पक्षी गृध्रः, अन्यैः पक्षिभिः, हतः = विनाशितः ।

भा०—जिसके कुल, स्वभाव आदि अपरिचित हों ऐसे किसी भी व्यक्ति को आश्रय नहीं देना चाहिये, क्योंकि अपने आश्रय में स्थित बिडाल के दोष से वृद्ध पक्षी गीध मारा गया था ॥ ५६ ॥

तौ आहतुः—'कथमेतत् ?' काकः—कथयति ।

भा०—वे मृग और शृगाल दोनों बोले—गीध और बिडाल की कथा किस प्रकार है ? उसे कहो. काक कहता है—

कथा ३

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकात् गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाऽऽहारात् किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य तस्मै ददति, तेनाऽसौ जीवति, तेषां शावकरक्षाञ्च करोति । अथ कदाचित् दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान् भक्षयितुं तत्राऽऽगतः । ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्त्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेन उक्तम्—कोऽयमायाति ? दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' यतोऽयं मां व्यापादयिष्यति ।

व्या०—भागीरथीतीरे–भगीरथस्य इयम् इति भागीरथी (पुरा कपिलस्य शापेन दग्धान् स्वपूर्वपितामहान् षष्टिसहस्रसङ्ख्याकसगरात्मजान् उद्धर्तुं सूर्यवंशीयः भगीरथः राजा तपस्तप्त्वा गङ्गां स्वर्गात् पृथिव्यामानिनाय इति तत आरभ्य गङ्गायाः 'भागीरथी' संज्ञा) तस्याः तीरं तस्मिन् = गङ्गातटे गृध्रकूटनाम्नि गृध्राः पक्षिणः वसन्ति कूटे यस्य सः गृध्रकूटः तन्नाम यस्य सः गृध्रकूटनामा तस्मिन् , पर्वते = महीधरे, महान् = विशालः, पर्कटीवृक्षः = प्लक्षतरुः, अस्ति = विद्यते । तस्य = तद्वृक्षस्य, कोटरे = स्कन्धान्तर्गर्ते, दैवदुर्विपाकात् = दैवस्य भाग्यस्य दुर्विपाकः प्रतिकूलत्वं तस्मात्, गलितनखनयनः = नखाश्च नयनानि च नखनयनम् (प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः) गलितं नखनयनं यस्य सः तादृशः, जरद्गव इति नाम यस्य सः जरद्गवनामा, गृध्रः = गृध्रपक्षी गृध्रजातीयः, प्रतिवसति = निवसति । (अथ = वाक्यारम्भे) तद्वृक्षवासिनः = तस्मिन् पर्कटीवृक्षे वसन्ति इति तद्वृक्षवासिनः, पक्षिणः = सर्वे पतत्रिणः, कृपया = दयया, तज्जीवनाय = तस्य जरद्गवस्य गृध्रस्य जीवनं रक्षणं तस्मै,

स्वाहारात् = स्वेषां पक्षिणाम् आहारः खाद्यं तस्मात् किञ्चित = कियन्मात्रं खाद्यम्, उद्धृत्य = अतिरिक्तमवस्थाप्य, ददति = प्रयच्छन्ति । असौ=अयं जरद्गवः, तेन = पक्षिदत्तखाद्येन, जीवति=जीवनं निर्वाहयति, तेषां=तत्रस्थानां पक्षिणाम्, शावक-रक्षाम् = शावकानां बालानां रक्षा = त्राणम् ताम्, च करोति । अथ=अनन्तरं कदा-चित्=एकस्मिन् समये, दीर्घकर्णनामा = दीर्घौ लम्बमानौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य सः दीर्घ-कर्णः, स एव नाम यस्य सः इति दीर्घकर्णनामा, मार्जारः=बिडालः, पक्षिशावकान्= पक्षिणां शावकाः बालाः तान्, भक्षयितुम् = अत्तुं खादितुम्, तत्र = पर्कटीवृक्षाऽधो-भागे, आगतः । ततः = तदनन्तरम्, आयान्तम् = आयाति इति आयान् तं आया-न्तम् = आगच्छन्तं, तं = बिडालम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, भयेन आर्त्ता तैः=भयविह्वलैः, पक्षिणां शावकाः तैः = पतत्रिबालैः, कोलाहलः=कलकलायमानः भयार्तनादः, कृतः= प्रारब्धः । जरद्गवेन = तेन जरद्गवनाम्ना वृद्धगृध्रेण, तत् = कोलाहलं, श्रुत्वा = आकर्ण्य, उक्तम् = अभिहितम् । अयम्=एषः दृष्टिविषयःव्यक्तिः, कः ? किंजातीयः किंनामा च ? आयाति = आगच्छति । दीर्घकर्णः = तन्नामा सः मार्जारः, गृध्रं = तं गृद्ध गृध्रपक्षिणम्, अवलोक्य, सभयं = भयेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह = उवाच, हा ! हन्त ! हतः = अहं विनाशितः, अस्मि=भवामि, यतः = यस्मात् हेतोः, अयं = गृध्रः माम् (बिडालम्) व्यापादयिष्यति = मारयिष्यति ।

भा०—भागीरथी गङ्गा के तट पर, 'गृध्रकूट' नाम के पर्वत पर पाकड़ का बड़ा वृक्ष है, उसकी कोटर (पोल) में दुर्भाग्यवाला तथा जीर्ण नख और नेत्र वाला ऐसा एक 'जरद्गव' नाम का गीध पक्षी रहता था । उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षिगण दया करके अपने अपने भोज्य वस्तुओं में से कुछ कुछ हिस्सा बचाकर उस गीध को देते थे, उससे गीध अपना जीवननिर्वाह करता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था । एक समय 'दीर्घकर्ण' नाम का बिडाल उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये उस स्थल पर आ पहुँचा, आते हुए बिडाल को देखकर पक्षियों के बच्चे भयभीत होकर कोलाहल करने लगे, यह सुन कर जरद्गव गीध ने कहा—कौन इधर आ रहा है ! तब दीर्घकर्ण नाम का बिडाल उस गीध को देख भयभीत होकर बोला, हाय हाय ! मैं मारा जाता हूँ क्योंकि यह गीध मुझे मार (चीर) डालेगा ।

अथवा—तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अ०—यावत् भयम् अनागतं (भवति) तावत् भयस्य भेतव्यम्, तु भयम् आगतं वीक्ष्य, नरः यथोचितं कुर्यात् । व्या०—यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, भयं= भीतिकारणम् अनागतं = उपस्थितं न भवति, तावत्=तावत्कालपर्यन्तं, भयस्य = भयकारणात् (सम्बन्धे षष्ठी) भेतव्यं = जनैः त्रसितव्यम् । तु = किन्तु, भयं =

भीतिम् आगतम् = उपस्थितम् , वीक्ष्य = ज्ञात्वा, नरः यथोचितम् = यथायोग्यम्, प्रतिकुर्यात् = प्रतीकारं विदध्यात् ।

भा०—जब तक भय न आया हो तब तक भय से डरना चाहिये । लेकिन जब भय सामने आ गया तब तो उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५७ ॥

अधुनाऽतिसन्निधाने पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तथा भवतु, तावत् विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि, इत्यालोच्य तमुपसृत्याब्रवीत्–'आर्य ! त्वाम् अभिवन्दे'। गृध्रोऽवदत्–'कस्त्वम् ?' सोऽवदत्–'मार्जारोऽहम्' । गृध्रो ब्रूते–'दूरम् अपसर नो चेत् हन्तव्योऽसि मया' । मार्जारोऽवदत्–श्रूयतां तावत् मद्वचनम् , ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः ।

व्या०— अधुना = इदानीम्, अतिसन्निधाने = जरद्गवस्य गृध्रस्यातिनिकटे आगतोऽस्मि, अत एव पलायितुं = पलाय्य गन्तुम् , अक्षमः = अशक्तः अस्मि । तत् = तस्मात् असमर्थत्वात् हेतोः, यथा = येन प्रकारेण, भवितव्यम्, तथा=तेन प्रकारेण भवतु=मरणं जीवनं वा यत्किमपि भवतु, किन्तु इत्यर्थः । तावत्=प्रथमम्, विश्वासं= मां प्रति विश्वासभावम् , उत्पाद्य=जनयित्वा, अस्य = जरद्गवस्य गृध्रस्य, समीपं= निकटम् , उपगच्छामि, इति=एवम्, आलोच्य विचार्य, तं=जरद्गवम्, उपसृत्य= समीपं समासाद्य, अब्रवीत्=अभिहितवान् । आर्य=माननीय वृद्ध ! त्वां=भवन्तम्, अभिवन्दे=सस्तवनं प्रणमामि । गृध्रः=जरद्गवः, अवदत्=उवाच, त्वं = भवान् , कः ? किंजातीयः असि ? सः = दीर्घकर्णः मार्जारः, अवदत् = अकथयत् , अहं मार्जारः=विडालजातीयः, अस्मि । गृध्रः ब्रूते=कथयति, दूरं=दूरप्रदेशम्; अपसर= त्वं गच्छ । नो चेत् = यदि न गच्छसि ! तदा त्वं मया गृध्रेण हन्तव्यः = विदारणीयः, असि = भवसि । मार्जारः=बिडालः, अवदत् = उक्तवान् , तावत्=प्रथमम्, मम वचनं = मद्वचनं = मे वाक्यम् , श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्, ततः=श्रवणाऽनन्तरम् , यदि अहं (मार्जारः) वध्यः=वधार्हश्चेत् भवामि ! तदा हन्तव्यः = त्वया गृध्रेण विनाश्यः ।

भा०—अब अति समीप होने से मैं भाग भी नहीं सकता । अच्छा, जो होना हो वह हो, लेकिन प्रथम गीध को विश्वास उत्पन्न करके समीप में जाऊँ । ऐसा सोचकर गीधके सामने जाकर बोला–आर्य गीध ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ । गीध बोला–तुम कौन हो ? उसने कहा–मैं विडाल हूँ । गीध बोला–दूर जा यहाँ से, नहीं तो मैं मार डालूँगा । बिडाल बोला—प्रथम मेरा वचन सुनिये, पीछे अगर मैं मारने योग्य हूँ तो मार डालिये ।

यतः—जातिमात्रेण किं कश्चिद् वध्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

अ०—(जनैः) क्वचित् कश्चित् जातिमात्रेण वध्यते पूज्यते किम् ? अथवा व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्यः भवेत् । व्या०—क्वचित्—कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् अपि व्यक्तिः, जातिमात्रेण = जातिरेव जातिमात्रं तेन = चाण्डालत्वेन हन्तव्यः, ब्राह्मणत्वेन पूज्यः इत्येवं जातिव्यवहारेण । किम् (प्रश्ने) पृच्छामि । वध्यते=हन्यते, पूज्यते=अर्च्यते ? वा । अथवा=किन्तु, व्यवहारम्=आचारं श्रेष्ठं कनिष्ठं वा, परिज्ञाय—ज्ञात्वा, वध्यः = नाश्यः, पूज्यः = अर्च्यो वा भवेत् ? इति ।

भा०—किसी भी स्थल में क्या जातिमात्र से ही कोई मारा जाता है या पूजा जाता है ? नहीं, किन्तु आचरण के अनुसार मारने योग्य और पूजने योग्य होता है ॥ ५८ ॥

गृध्रो ब्रूते-'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्-'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । युष्मान् 'धर्मज्ञानरताः प्रेमविश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति, अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः, यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ?' गृहस्थधर्मश्च एषः—

व्या०— गृध्रः = जरद्गवः पक्षी, ब्रूते = कथयति, ब्रूहि = कथय, किमर्थं = कस्मै प्रयोजनाय, आगतोऽसि ? सः दीर्घकर्णनामा बिडालः, अवदत् = उवाच, अहम् , नित्यं = त्रिसन्ध्यं स्नाति, इति नित्यस्नायी, निरामिषाशी=आमिषं मांसम् अश्नाति अत्ति इति आमिषाशी, स न भवतीति निरामिषाशी, ब्रह्मचारी=ब्रह्म=ऊर्ध्वस्रोतसां व्रतं चरितुं शीलमस्य इति ब्रह्मचारी, चन्द्रस्य अयनमिव अयनम् अस्मिन् इति चन्द्रायणम् , चन्द्रायणमेव चान्द्रायणम् (एकैकं ग्रासं ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत् इति) तद्व्रतं कृच्छ्रम् , आचरन् = अनुतिष्ठन् , अत्र = अस्मिन् , गङ्गायाः तीरं तस्मिन् तिष्ठामि=निवसामि । सर्वे=गङ्गातीरस्थाः प्रायशः सकलाः, पक्षिणः = पतत्त्रिणः, सर्वदा सर्वस्मिन् काले, ममाग्रे=मम पुरतः, युष्मान् = भवतः सर्वान्—धर्मश्च ज्ञानं च धर्मज्ञाने धर्मज्ञानयोः रताः धर्मज्ञानरताः, प्रेमा च विश्वासश्च प्रेमविश्वासौ तयोः भूमयः स्थानानि तादृशाः इति प्रस्तुवन्ति = प्रकर्षेण प्रशंसन्ति । अतः = एतस्माद्धेतोः, भवद्भ्यः विद्यावयोवृद्धेभ्यः = विद्या च वयश्च विद्यावयसी, ताभ्यां वृद्धाः नत्ताः अधिकाः तभ्यः = तादृशेभ्यः श्रीमद्भ्यः । धर्मं = धर्मस्वरूपम् , श्रोतु = ज्ञातुम् , इह भवतां सन्निधौ, आगतोऽस्मि । भवन्तश्च यूयञ्च, एतादृशाः= ईदृशाः, धर्मवेत्तारः सन्ति । यत् = येन धर्मज्ञानेन हेतुना, अतिथिं माम् = जिज्ञासुं माम् , हन्तुम्=नाशयितुम् , उद्यताः=प्रवृत्ताः भवन्ति । (लज्जाजनकं वचनमेतत्) एषः = अग्रे वक्ष्यमाणः, गृहस्थधर्मः = गृहैः दारैः सह तिष्ठन्ति इति गृहस्थास्तेषां धर्मः, कर्त्तव्यविषयः अस्ति ।

भा०—गीध ने कहा-बोल, यहां क्यों आया है। बिडाल बोला-मैं नित्य त्रिकाल स्नान करता हूँ, मांसादि नहीं खाता हूँ, ब्रह्मचर्य व्रत पालता हूँ और चान्द्रायण व्रत को करता हुआ इस गङ्गा के तट पर रहता हूँ। बहुत से पक्षी लोग-रोज मेरे पास आकर आप 'धर्मज्ञान के प्रेमी और प्रेम तथा विश्वास के पात्र हैं'—ऐसी आपकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध आप को समझ कर आप से धर्म का स्वरूप जानने आया हूँ। (किन्तु) आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं कि मुझ अतिथि को मारने को तैयार हो गये। गृहस्थधर्म ऐसा है—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुः पार्श्वगताच्छायां नोपसंहरते द्रुमः॥ ५९॥

अ०—गृहम् आगते अरौ अपि उचितम् आतिथ्यं कार्यम्, द्रुमः पार्श्वगतात् छेत्तुः छायां न उपसंहरते। व्या०—गृहं = भवनम्, आगते=समुपस्थिते, अरौ अपि= शत्रौ अपि, उचितं=घटितम्, आतिथ्यम् = अतिथेः सत्कारः, कार्यम् = कर्तव्यम्, तदेव दृष्टान्तेन दृढं करोति—द्रुम इति। द्रुमः = तरुवरः, पार्श्वगतात् = पार्श्वं छाया-प्रदेशं गतः तस्मात् = स्वच्छायायां लब्धविश्रामादित्यर्थः। छेत्तुः = शाखाच्छेदनकर्तुः अपि पुरुषात् छायां न उपसंहरते = न आकर्षति।

भा०—अपने घर (आश्रम) में आये हुये शत्रु का भी अतिथि सत्कार करना चाहिए। क्योंकि वृक्ष अपनी छाया को अपनी शाखा काटने वाले पुरुष से नहीं हटाता है॥ ५९॥

किञ्च—यदि अन्नं नास्ति तदा सुप्रीतेनाऽपि वचसा तावदतिथिः पूज्य एव।

व्या०—किञ्च = अथवा, यदि = चेत्, अन्नं=भक्ष्यपदार्थः, नास्ति = उपस्थितं न भवति, तदा = तादृश्यवस्थायाम्, सुप्रीतेनाऽपि = सुमधुरेण प्रीतियुक्तेन अपि, वचसा वाङ्मात्रेण, अतिथिः = गृहागतः अभ्यागतः। पूज्यः = सत्कार्यः इति।

भा०—और यदि घर में अन्न तैयार न हो तो उस समय केवल मधुर वाणी से भी अतिथि सत्कार करने योग्य है।

तथा चोक्तं—तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ६०॥

अ०—तृणानि भूमिः उदकं चतुर्थी सूनृता वाक् च, एतानि अपि सतां गेहे कदाचन न उच्छिद्यन्ते। व्या०—तृणानि = कुशासनादिकम्, भूमिः=निपदनार्थं श्रेष्ठं स्थलम्, उदकं= चरणप्रक्षालनाद्यर्थं जलम्, चतुर्थी = चतुर्णां पूरणी, सूनृता = प्रियसत्या, वाक् = वाणी च। एतानि अपि = उक्तानि तृणादीनि अपि, सतां = साधूनां गेहे निवासे, कदाचन = कदापि न उच्छिद्यन्ते = न अनुपस्थितानि भवन्ति।

भा०—तृणोंका बनाया आसन, भूमि, जल और चौथी सुमधुर वाणी ये चार तो साधुजनों के घर में अवश्य होते हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ६१ ॥

अ०—बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा गृहम् आगतः, तस्य पूजा विधातव्या, अभ्यागतः सर्वस्य गुरुः । व्या०—बालो वा = शिशुर्वा, यदि वा वृद्धः=अथवा वृद्धावस्थः, युवा वा = यौवनावस्थो वा, (यः कोऽपि भवेत्, किन्तु स्वस्य) गृहं=निवासम्, आगतः=प्राप्तः भवेत्, तर्हि तस्य=अतिथेः, पूजा = सत्कारादिकम्, विधातव्या=कर्तव्या । यतः सर्वस्य = जनस्य, अभ्यागतः = अतिथिः, गुरुः = पूज्यः ।

भा०—बालक, वृद्ध या जवान, जो कोई घर में आया हुआ अतिथि है, उसका सत्कार करना चाहिये । क्योंकि अतिथि सबके लिये गुरुवत् पूज्य है ॥ ६१ ॥

अपरञ्च—निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६२ ॥

अ०—साधवः निर्गुणेषु अपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति, चन्द्रः, चाण्डालवेश्मनः ज्योत्स्नां न हि संहरते । व्या०-साधवः = सत्पुरुषाः, निर्गुणेषु अपि=गुणरहितेषु अपि, सत्त्वेषु = प्राणिषु, दयां = कृपाम्, कुर्वन्ति = विदधति । तत्र दृष्टान्तः-चन्द्रः=शशी, चाण्डालवेश्मनः = चाण्डालस्य वेश्म तस्मात्, श्वपचादिगृहात्, ज्योत्स्नां=कौमुदीम् न हि संहरते = न आकर्षति । (चाण्डालवेश्मनि इति पा०)

भा०—साधुजन निर्गुण जीवों पर भी दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा भी अपनी चांदनी को चाण्डाल के घर से हटा नहीं लेता है ॥ ६२ ॥

अन्यच—अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६३ ॥

अ०—यस्य गृहात् अतिथिः भग्नाशः प्रतिनिवर्तते, सः तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यम् आदाय गच्छति । व्या०—यस्य = गृहस्थस्य, गृहात् = भवनात्, अतिथिः = अभ्यागतः, भग्ना = हता = अफला, आशा = अभिलाषा भिक्षेच्छा यस्य सः=अपूर्णमनोरथः सन्नित्यर्थः प्रतिनिवर्तते = प्रत्यावर्तते प्रत्यागच्छति । सः = अतिथिः, तस्मै = गृहिणे, दुष्कृतं=स्वीयपापम्, दत्त्वा=प्रदाय, पुण्यञ्च = गृहस्वामिनः धर्मञ्च, आदाय = गृहीत्वा = अपहृत्य । गच्छति = याति ।

भा०—जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट आता है, वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और गृहस्वामी का पुण्य ले कर चला जाता है ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ६४ ॥

अ०—उत्तमस्य वर्णस्य गृहम्, आगतः नीचः अपि यथायोग्यं, पूजनीयः, (यतः) सर्वदेवमयः अतिथिः। व्या०—उत्तमस्य=उत्कृष्टस्याऽपि वर्णस्य=ब्राह्मणादेः, अपि गृहं=भवनम्, आगतः=प्राप्तः, नीचः अपि=हीनजातिरपि आतिथ्यापेक्षया अतिथिः, यथायोग्यं=यथोचितम्, पूजनीयः=सम्भावनीयः, (यतः) अतिथिः—अभ्यागतः सर्वदेवमयः=सर्वेभ्यः देवेभ्यः अपृथक्स्वरूपः, भवतीति।

भा०—उत्तम ब्राह्मणादि के घर पर आया हुआ कनिष्ठ वर्ण का भी अतिथि यथोचित सत्कार करने योग्य है। क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय होता है॥ ६४॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्च अत्र निवसन्ति, तेनाऽहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति, ब्रूते च—मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणम् अध्यवसितम्, यतः परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्,—'अहिंसा परमो धर्मः—' इत्यत्रैकमत्यम्'।

व्या०—गृध्रः=जरद्गवः, अवदत्=अभिहितवान् हि=निश्चये मार्जारः=विडालः मांसरुचिः=मांसे मांसादने रुचिः आतुरता यस्य सः=मांसाशी, भवति। अथ च अत्र एतस्मिन् पर्कटीवृक्षे, पक्षिशावकाः=पक्षिणां पतत्त्रिणां शावकाः=बालाः, निवसन्ति=वासं कुर्वन्ति, तेन हेतुना, अहम् (गृध्रः) एवम्='दूरमपसर' इति वचनं ब्रवीमि=अभिहितवान् अस्मि। मार्जारः=विडालः, तत्=गृध्रस्य वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, (हस्ताभ्याम्) भूमिं-मृत्तिकाम्, स्पृष्ट्वा=संस्पृश्य, कर्णौ=श्रवणद्वयम्, स्पृशति=आच्छादयति। ('मांसरुचिः' इत्येतद्गृध्रवाक्यश्रवणेन (विडालः) आत्मानं पापसंस्पृक्तमाशङ्कमानः सन् तत्परिहाराय भूमिं स्पृष्ट्वा श्रवणे च स्पृष्टवानिति भावः) ब्रूते च=अभिधत्ते च, मया (विडालेन) धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य वीतरागेण (सता) वीतः नष्टः रागः मांसादिविषयतृष्णा यस्य सः तेन=रागरहितेन सता, इदम्=एतत्, दुष्करम्=दुःखेन क्रियते इति दुष्करम्=अतिप्रयाससाध्यम् चान्द्रायणम्=चन्द्रस्य अयनमिव अयनं अन्नग्रासक्रमो यस्मिन् तत्, कृच्छ्रं, चान्द्रायणम् (एकैकं ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत्) तादृशं व्रतम्, अध्यवसितम्=अनुष्ठितम्, यतः=यस्माद्धेतोः, परस्परम्=परम् परम् इति परस्परम्=अन्योन्यम्, विवदमानानां=विरुद्धमतप्रतिपादकानामपि, धर्मशास्त्राणां=मन्वादिप्रणीतस्मृतीनाम्, अहिंसा=सर्वथा मनसा कर्मणा वाचा च हिंसाराहित्यमेव, परमः=श्रेष्ठतमः, धर्मः=अस्ति, इति अत्र अस्मिन् विषये,ऐकमत्यम्=एकम् अविरुद्धं मतम्=अभिप्रायः तात्पर्यं येषान्तानि तेषां भावः, मतभेदाः न सन्तीति भावः। सर्वेषु शास्त्रेषु प्राणिहिंसानुमतिर्न दृश्यते, अतः मयाऽपि निःस्पृहेन चान्द्रायणं चरितमिति नाहं पक्षिशावकान् हनिष्यामीति।

भा०—गीध बोला-'बिड़ाल मांस का प्रेमी होता है और इस वृक्ष पर पक्षियों के बच्चे रहते हैं इसलिए मैं यहाँ से चले जाने को कहता हूँ' ऐसा सुनकर बिड़ाल ने (दोनों हाथोंसे) पृथ्वी (मिट्टी) को छूकर दोनों कान छूए और कहने लगा-मैंने धर्मशास्त्र सुनकर मांसादि की तृष्णा छोड़कर अतिकठिन चान्द्रायण व्रत किया है, क्योंकि परस्पर भिन्न भिन्न निर्णय बताने वाले धर्मशास्त्रों का 'अहिंसा परम धर्म है' इस बात में तो एक ही मत है।

यतः—**सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।**

सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६५ ॥

अ०—**ये नराः सर्वहिंसानिवृत्ताः, ये च नराः सर्वसहाः, सर्वस्य आश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ।** व्या०—**ये नराः = जनाः, सर्वहिंसानिवृत्ताः=सर्वेषां भक्ष्याऽभक्ष्याणां प्राणिनां हिंसा = हननम्, तस्याः (पञ्चमी) निवृत्ताः=पराङ्मुखाः विरता भवन्ति, ये च नराः = जनाः सर्वसहाः=सर्वसुखदुःखमानाऽपमानादिकं सहन्ते इति सर्वसहाः=सर्वसहिष्णवः भवन्ति । अथ च सर्वस्य=सुखिनः दुःखिनो वा शरणागतस्य प्राणिनः, आश्रयभूताः = आधारभूताः, भवन्ति, ते नराः, स्वर्गं गच्छन्तीति स्वर्गगामिनः = स्वर्गवासिनः भवन्ति ।**

भा०—जो लोग सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हों तथा सर्वद्वन्द्वों के सहनशील हों और सबके आश्रयदाता हों, वे लोग अवश्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ६५ ॥

अन्यच्च—**एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।**

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६६ ॥

अ०—**एकः धर्म एव सुहृत्, यः निधने अपि अनुयाति, अन्यत् सर्वं तु शरीरेण समं नाशं गच्छति ।** व्या०—**एकः = केवलः, धर्म एव = एवकार इतरव्यावर्तकः, धर्म एव नान्य इत्यर्थः । सुहृत् = मित्रं भवतीति । कुतः ? इत्याह—यः = धर्मः, निधनेऽपि = मरणे सत्यपि, अनुयाति = अभीष्टफलदानार्थम् अनुगच्छति, अन्यत् सर्वं तु = धर्माऽतिरिक्तं पुत्रकलत्रादिकं बाह्यं वस्तुजातं पुनः, शरीरेण समं = कायेन सह, नाशं = ध्वंसम् , गच्छति = प्राप्नोति ।**

भा०—एक धर्म ही मित्र है, क्योंकि वही मरने के समय साथ जाता है और सब पुत्र स्त्री आदि का सम्बन्ध शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च—**योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम् ।**

एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ६७ ॥

अ०—**यः यस्य मांसं यदा अत्ति, (तदा) उभयोः अन्तरं पश्यत । एकस्य क्षणिका प्रीतिः, अन्यः प्राणैः विमुच्यते ।** व्या०—**यः = यः प्राणी, यस्य = प्राणिनः, मांसं=पिशितम्, यदा = यस्मिन् काले, अत्ति = भक्षयति, तदा उभयोः = भक्ष्यभ-**

चकयोर्द्वयोः, अन्तरं = प्रभेदम् , पश्यत = आलोकयत, यूयमिति शेषः । एकस्य = भक्षकस्य प्राणिनः, क्षणिका—क्षणमात्रस्थायिनी, प्रीतिः—तृप्त्यनुभवो भवतीति । अन्यः = भक्ष्यप्राणी तु, प्राणैः = असुभिः, विमुच्यते = वियुज्यते इति ।

भा०—जो प्राणी जिस प्राणी का मांस खाता है, उन दोनों में भेद तो देखिये । खाने वाले को क्षणमात्र तृप्ति होती है और दूसरे के प्राण ही जाते हैं ॥ ६७ ॥

अपि च—मर्त्तव्यमिति यद् दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यस्तेनाऽनुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ ६८ ॥

अ०—पुरुषस्य मर्त्तव्यम् इति यद् दुःखम् उपजायते, तेन अनुमानेन परः अपि परिरक्षितुं शक्यः । व्या०—पुरुषस्य=पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः तस्य जीवस्येत्यर्थः । 'मर्त्तव्यम्' इति=मम मरणं स्यादिति चिन्तया यद् दुःखं=यादृशं कष्टम्, उपजायते—उपस्थितं भवति, तेन=अनुमानेन स्वस्य यथा मरणेन कष्टं भवति, तथा अन्यस्याऽपि मरणम् अवश्यं दुःसहकष्टदम् इति अनुमित्या परोऽपि आत्मभिन्नोऽपि प्राणी, परिरक्षितुं = हिंसावृत्तितस्त्रातुं जीवयितुम् शक्यः=योग्योऽस्तीति । 'शक्यते नाऽनुमानेन परेण परिवर्जितु'मिति पाठान्तरम् ।

भा०—अपने को (बड़ी आपत्ति के समय) 'अब मेरा अवश्य मरण होगा' ऐसी चिन्ता से जितना दुःख होता है, उतना ही दुःख दूसरे को भी होता है, ऐसा समझकर कभी भी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ ६८ ॥

शृणु, पुनः—स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनाऽपि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ॥ ६९ ॥

अ०—(यद् उदरम्) स्वच्छन्दवनजातेन शाकेन अपि प्रपूर्यते । अस्य दग्धोदरस्य अर्थे कः महत् पातकं कुर्यात् ! व्या०—यद् उदरम् इति शेषः । स्वच्छन्दवनजातेन = स्वच्छन्दः अभिप्रायो यस्मिन् तेन = स्वच्छन्देन स्वेच्छया स्वभावत इति यावत्, वनात् जातः वनजातस्तेन = हलकर्षणादिकमन्तरेणाऽप्युत्पन्नेनेत्यर्थः । शाकेनाऽपि = (करणे तृतीया) शाकपत्रफलान्नादिनाऽपि, प्रपूर्यते भ्रियते जनैः । अस्य = एतस्य, दग्धोदरस्य = दग्धं च तदुदरं च दग्धोदरं तस्य, दग्धं = दाहेन जाठरेण विशिष्टं यदुदरं तस्येत्यर्थः । अर्थे = निमित्ते, कः = को जनः, महत् पातकं= जीवहिंसात्मकम् अत्युत्कटं पापम् , कुर्यात् = आचरेत् ? न कोऽपीत्यर्थः ।

भा०—और भी सुनो, जब वन में स्वाभाविक उत्पन्न शाक, पत्र आदि से भी पेट भर सकते हैं, तब उदर के लिए हिंसात्मक बड़ा पाप क्यों किया जाय ? ॥ ६९ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः । ततो दिनेषु गच्छत्सु असौ पक्षिशावकानाक्रम्य स्वकोटरमानीय प्रत्यहं खादति । अथ येषाम-

पत्यानि खादितानि; तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः । पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकाः खादिता इति (सर्वैः पक्षिभिः) निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि–'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि ।

व्या०—स मार्जारः = दीर्घकर्णः, एवम् = इत्युक्तरूपेण, विश्वास्य = जरद्गवस्य मानसे विश्वासं जनयित्वा, तरुकोटरे=तरोः पर्कटवृक्षस्य कोटरे कुत्रचिद् गह्वरप्रदेशे, स्थितः = वासं करोति । ततः दिनेषु गच्छत्सु = कियति काले व्यतीते सतीत्यर्थः । असौ = बिडालः, पक्षिशावकान् = पक्षिणां शावकास्तान् , आक्रम्य = मारयित्वा, स्वकोटरं=निजनिवासगह्वरम्, आनीय=प्रापय्य, प्रत्यहम्=अहनि अहनीति प्रत्यहम् (वीप्साऽर्थेऽव्ययीभावो व्याप्त्यर्थे द्वितीया), प्रतिदिवसमित्यर्थः । खादति=अत्ति । अथ येषां = पक्षिणाम् , अपत्यानि = शावकाः, खादितानि = भक्षितानि, तैः = पक्षिभिः, शोकार्त्तैः = शोकेन आर्त्ताः तैः, विलपद्भिः–विलपन्ति इति विलपन्तः, तैः विलपद्भिः = शोकदुःखितैः विलापं कुर्वद्भिश्च सद्भिः, इतस्ततः = अस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे, जिज्ञासा–ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा = नष्टशावकाऽन्वेषणमित्यर्थः । समारब्धा । मार्जारः दीर्घकर्णः, तत् = पक्षिकृतं शावकाऽन्वेषणम् , परिज्ञाय=ज्ञात्वा, कोटरात्= वासभूतगह्वरात् , निःसृत्य = निर्गत्य, बहिः पलायितः । पश्चात् = मार्जारपलायनोत्तरकाले, पक्षिभिः इतस्ततः, शावकानिति शेषः । निरूपयद्भिः=अन्विष्यद्भिः सद्भिः, तत्र तरुकोटरे = वृक्षगह्वरे, शावकास्थीनि = शावकानाम् अस्थीनि, प्राप्तानि—अवलोकितानि । अनन्तरम् = अस्थिप्राप्त्यनन्तरम् , अनेनैव = जरद्गवेन गृध्रेण एव अस्माकं शावकाः खादिताः इत्येवं विनिश्चित्य=अध्यवस्य, स गृध्रः व्यापादितः= मारितः । अतः उक्तकथाऽऽत्मकदृष्टान्तस्य पूर्वं सम्भावितत्वाद् हेतोः, अहं = लघुपतनकनामा ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्येत्यादि' (श्लोकः) ।

भा०—वह बिड़ाल इस प्रकार जरद्गव नामक गीध को विश्वास दिलाकर उस वृक्षकी कोटर में रहने लगा और प्रत्येक दिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर अपनी कोटर में लाकर खाने लगा । अब जिन-जिन के बच्चों को वह खा गया था वे सब पक्षी शोकातुर हो विलाप करते हुए अपने बच्चों को खोजने लगे । वह बिड़ाल 'खोज होने लगी' इस बात को जानकर वृक्ष कोटर में से निकल कर अन्यत्र भाग गया । उसके बाद खोज करते हुए पक्षियों ने उस कोटर में अपने बच्चों की हड्डियाँ पायीं । तब सब पक्षियों ने 'इस जरद्गव नामक गीध ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके उस गीध को मार डाला । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अज्ञातकुलशील' इत्यादि ।

इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह–'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवा-

नपि अज्ञातकुलशील एव आसीत्। तत् कथं भवता सह एतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?' ॥

व्या०--सः शृगालः, इति=इत्येवं रूपं काकवचनम् , आकर्ण्य=श्रुत्वा, सकोपं= कोपेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह=उवाच। मृगस्य प्रथमदर्शनदिने-प्रथमं च तद्दर्शनं च प्रथमदर्शनं प्रथमदर्शनस्य दिनं तस्मिन् , भवान् अपि, मृगस्य अज्ञात-कुलशीलः-कुलं च शीलं च कुलशीले न ज्ञाते कुलशीले यस्य सः तादृशः, सर्वथा परिचयरहित एव आसीदित्यर्थः। तत्-तर्ह्यपि, भवता सह एतस्य मृगस्य, स्नेहानु-वृत्तिः=स्नेहस्य अनुवृत्तिः बन्धनम्। उत्तरोत्तरम्=उत्तरस्माद् उत्तरमिति पञ्चमी-तत्पुरुषः, कथम्=केन हेतुना प्रकारेण वा, वर्द्धते ?।

भा०—वह शृगाल ऐसा सुनकर क्रोधपूर्वक बोला—'इस हरिण के मिलाप के प्रथम दिन तुम भी तो हरिण के कुलशील को नहीं जानते थे, तो भी तुम्हारे साथ इस हरिण का स्नेहभाव उत्तरोत्तर क्यों बढ़ता जाता है ?'।

अथवा—यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७० ॥

अ०--यत्र विद्वज्जनो नास्ति तत्र अल्पधीः अपि श्लाघ्यः, निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते। व्या०--यत्र यस्मिन् प्रदेशे, विद्वज्जनः=वेत्ति इति विद्वान् विद्वांश्चासौ जनः विद्वज्जनः पण्डितो लोकः, नास्ति=न वर्तते, तत्र=प्रदेशे, अल्पधीः= अल्पा मन्दा धीः बुद्धिर्यस्य सः विद्याहीनोऽपीत्यर्थः। श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, समादरणीयो भवतीति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-निरस्येति। पद्भिः मूलैः पिबतीति पादपः वृक्षः, निरस्तः नष्टः पादपो यस्मात् सः तस्मिन्=वृक्षशून्ये, देशे=प्रदेशे, एरण्डः एरण्डनामा द्रुमः कुत्सितोऽपि सन् , द्रुमायते=अद्रुमः द्रुमो भवतीति द्रुमायते वृक्षत्वेन गणनां विन्दति, यथा तथेत्यनुसन्धेयम्।

भा०—अथवा जहाँ विद्वान् जन नहीं हैं, वहाँ अल्प बुद्धि वाला भी श्लाघनीय होता है, जैसे कि—वृक्षशून्य प्रदेश में एरण्ड भी बड़ा वृक्ष कहा जाता है ॥ ७० ॥

अन्यच्च—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

अ०—लघुचेतसाम् 'अयं निजः परो वा' इति गणना, उदारचरितानां तु वसुधा एव कुटुम्बकम्। व्या०—लघुचेतसां-लघु क्षुद्रं चेतो मानसं येषान्तेषां=नीचाशया-नाम् , अयम्=अमुकव्यक्तिः, निजः=आत्मीयः परो वा=अथवा अनात्मीयः, इति गणना=विचारणा, भवतीति शेषः। उदारचरितानां तु-उदारम्=औदार्ययुक्तं चरितं=विचारणाऽऽदिकं येषां तेषां=महानुभावानान्तु, वसुधैव-वसूनि दधाति सा=पृथ्वीमण्डलमेव, कुटुम्बकम्=आत्मीयवर्गात्मकम् , भवतीति शेषः।

भा०—हल्के चित्त वाले लोगों की–'यह अपना है-यह पराया है'–ऐसी बुद्धि होती है। उदार चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के जनों को ही कुटुम्बी मानते हैं॥ ७१॥

यथा चाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि। मृगोऽब्रवीत्—'किमनेन उत्तरोत्तरेण? सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम्।'

व्या०—अयं = मत्समीपवर्ती, मृगः = हरिणः, यथा यादृक् मम बन्धुः = मित्रं भवति, तथा तादृक् भवान् अपि मम बन्धुः, (ततः) मृगः अब्रवीत् = उक्तवान्, अनेन = एतादृशनिरतत्त्वेन उत्तरोत्तरेण = उत्तरादुत्तरेण वाक्प्रपञ्चेन, किम् = अलमित्यर्थः। सर्वैः = अस्माभिः समस्तैः, विश्रम्भालापैः = विश्रम्भेण विश्वासेन आलापाः, सम्भाषास्तैः सुखम् = आनन्दम्, अनुभवद्भिः, स्थीयताम्।

भा०—जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे तुम भी मेरे मित्र हो। मृग बोला–इन निरर्थक उत्तर-प्रत्युत्तरों से क्या काम है? चलो, हम सब एक स्थान में सार्थक वार्तालाप का आनन्द लेते हुए बैठें।

यतः—**न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।**
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥ ७२॥

अ०—कश्चित् कस्यचिद् न मित्रम्, कश्चित् कस्यचिद् न रिपुः, व्यवहारेण मित्राणि तथा रिपवः जायन्ते। व्या०—कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य व्यक्तिविशेषस्य, मित्रं = बन्धुः, न भवतीति। एवं कश्चिदपि जनः, कस्यचिदपि जनस्य, रिपुः = शत्रुरपि न भवतीति। किन्तु व्यवहारेण = अनुकूलेन प्रतिकूलेन वा आचरणेन कार्येण वा, (लोकाः परस्परं) मित्राणि = सुहृदः बन्धवः तथा रिपवः = शत्रवश्च, जायन्ते इति।

भा०—स्वभाव से न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु है। किन्तु अच्छा बुरा व्यवहार होने से ही परस्पर मित्र और शत्रु हो जाते हैं॥ ७२॥

काकेन उक्तम्—'एवमस्तु'। अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः। एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते–'सखे मृग! एतस्मिन्नेव वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि'। तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। ततो दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद् दृष्ट्वा पाशास्तत्र योजिताः। अनन्तरं पुनरागतो मृगः तत्र चरन् पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्–'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः?'। अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्–'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्या-

न्मे भविष्यति। यतः एतस्य उत्कृत्यमानस्य मांसाऽसृग्लिप्तानि अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति'। स च मृगस्तं दृष्ट्वा उल्लासितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्'।

व्या०—काकेन उक्तम् = अभिहितम्, एवम् = भवता यदभिधीयते तथाऽस्तु भवतु। अथ = पश्चात्, प्रातःसमये सर्वे काकप्रभृतयः, यथाभिमतदेशं=स्वस्वाभिमतभूप्रदेशम्, गताः = प्रस्थिताः। एकदा=एकस्मिन् काले, सः शृगालः, निभृतम्= एकान्तस्थले, ब्रूते, मृगमिति शेषः। सखे! एतस्मिन् वनैकदेशे = अरण्याऽपरपार्श्वे सस्यपूर्णं = सस्यैः परिपूर्णम्, क्षेत्रं = कृषिभूमिः, अस्ति = विद्यते। अहं तत्र = तदन्तिकम्, नीत्वा = प्रापय्य, त्वां तत् क्षेत्रं दर्शयामि। तथा कृते सति = क्षेत्रे दर्शिते सति, सः मृगः, प्रत्यह = प्रतिदिवसम्, तत्र क्षेत्रे गत्वा सस्यं खादति = भक्षयति। ततः = तदनन्तरं, दिनकतिपयेन = कियद्दिनेषु गच्छत्सु सत्सु, क्षेत्रस्य पतिस्तेन क्षेत्रस्वामिना, तद् दृष्ट्वा = क्षेत्रे भक्षितसस्यानि ज्ञात्वा, तत्र = क्षेत्रे, पाशाः = मृगबन्धनजालाः, योजिताः। अनन्तरं पुनः आगतो मृगः तत्र क्षेत्रे चरन्, पाशैः= जालैः, बद्धः सन्, अचिन्तयत् = मनसि ध्यातवान्, पाशबद्धं माम् इतः=अस्मात्, कालपाशादिव = कालस्य यमस्य पाशस्तस्मात्, इव तत्सदृशादित्यर्थः, व्याधस्य पाशात् त्रातुं = रक्षितुम, मित्रात्=स्वाभाविकसुहृदः, अन्यः कः समर्थः भविष्यति? न कोऽपीत्यर्थः। अत्रान्तरे = तस्मिन्नेव समये, सः जम्बुकः, तत्र क्षेत्रे आगत्य उपस्थितः सन् अचिन्तयत् = मनसि कृतवान्। तावत् = वाक्यालङ्कारे, अस्माकम्, कपटप्रबन्धः = कपटेन प्रबन्धः छलप्रयोगः, फलितः=सफलो जातः। मे=मम, मनोरथसिद्धिरपि = मनोऽभीष्टसम्पादनमपि, बाहुल्यात् = परिपूर्णतया, भविष्यति। यतः = यस्माद्धेतोः, उत्कृत्यमानस्य = खण्डशः क्रियमाणस्य, व्यापाद्यमानस्येति यावत्। एतस्य = मृगस्य, मांसाऽसृग्लिप्तानि = मांसञ्च असृग् रुधिरं चेति मांसाऽसृक् (द्वन्द्वः, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः) तेन लिप्तानि = सम्पृक्तानि, अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च अस्थीनि, बाहुल्येन=भूम्ना मम भोजनानि भविष्यन्तीति। सः जालबद्धो मृगश्च तं शृगालं दृष्ट्वा, उल्लासितः = प्रहृष्टः सन्, तं जम्बुकं ब्रूते—हे सखे! जम्बुक! तावत् = यावद् न कश्चिदागच्छति तावत्, मम बन्धनं=पाशम्, छिन्धि = खण्डय, मां सत्वरं = झटिति त्रायस्व = रक्ष।

भा०—काक ने कहा—'वैसा ही हो'। उसके बाद प्रातःकाल काक आदि सब यथेष्ट प्रदेशों को चले गये। एक बार एकान्त में शृगाल ने मृग से कहा—'सखे मृग! इस वन के एक भाग में धान्यादि से परिपूर्ण एक खेत है, मैं तुमको उसके निकट ले जाकर बताता हूँ।' बताने के बाद वह मृग रोज खेत में जाकर धान्यादि खाने लगा। कुछ दिन बाद खेत के

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र विना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—हे सखे जम्बुक! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥ ७३॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु = विपत्सु समुपस्थितासु मित्रं = सुहृदम्, जानीयात् = परीक्षेत। युद्धे = समरे उपस्थिते सति, शूरं = वीरम्, परीक्षेत। ऋणे = ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम् = अकपटं जनं परीक्षेत। वित्तेषु = धनेषु, क्षीणेषु = नष्टेषु सत्सु, भार्यां = स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु = दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है॥ ७३॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ७४॥

अ०—यः उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धवः। व्या०—यः = जनः अपरिचितः सन्नपि, उत्सवे = विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने = विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे = दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे = प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने = शवदाहस्थाने च, तिष्ठति = तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थः बान्धवः भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय, अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं॥ ७४॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिताः पाशाः, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

दन्तैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते न अन्यथा मन्यसे, तदा प्रभाते यत् त्वया वक्तव्यं तत् कर्तव्यम्' इति। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं तं दृष्ट्वा उवाच—'सखे ! किमेतत् ?' मृगेणोक्तम् 'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्। तथा चोक्तम्—

व्या०—जम्बुकः = शृगालः, पाशं, मुहुर्मुहुः = वारं वारम्, विलोक्याऽचिन्तयत् = मनसि कृतवान्, अयं पाशस्य बन्धः दृढः = कठिनतमः, अस्तीति शेषः। (तावदत्र स्वर्थे) ब्रूते च—सखे मृग ! स्नायुनिर्मिताः—स्नायुभिः देहान्तर्वर्तिसूक्ष्मनाडीविशेषैः, निर्मिताः = रचिताः, पाशाः = जालरज्जवः सन्ति, तत् = तस्माद्धेतोः, रविवासरे मद्यमांसादिभक्षणनिषेधात् स्नायुनिर्मितपाशानामस्पृश्यत्वाच्चेति हेतोरिति यावत्। अद्य, भट्टारकवासरे, सूर्यो हि गृहस्वामित्वात् 'भट्टारक' इत्युच्यते, तस्य वासरे, एतान् = स्नायुपाशान्, कथं दन्तैः = दशनैः, स्पृशामि ? मित्र ! मृग! यदि (त्वं स्वस्य) चित्ते, अन्यथा = मम जीवनात् व्रतं गुरुतरं मन्यते शृगालः—इति कृत्वा विपरीतं दुःखमित्यर्थः। तादृशं दुःखं न मन्यसे चेत्। तदा प्रभाते त्वया यद् वक्तव्यं मोचनोपायरूपम्, तद् क्षेत्रस्वाम्यागमनात्पूर्वमेव मया कर्तव्यमिति। अनन्तरं = पश्चात्, सः काकः, प्रदोषकाले = सायंसमये, मृगमनागतमवलोक्य, इतस्ततः = समन्तात्, अन्विष्यन् = अन्वेषणं कुर्वन् सन्, तथाविध = तादृशी विधा स्थितिर्यस्य तम्, पाशबद्धमित्यर्थः। तं = मृगम्, दृष्ट्वा उवाच—सखे मृग। एतत् = पाशबन्धनरूपम्, किं = किं निमित्तं भवतीति। मृगेण उक्तम्—एतत् = बन्धनम्, अवधीरितम् = अवज्ञातम् अश्रुतं यत् सुहृदः मित्रस्य वाक्यं वचनं तस्य, फलं = परिणामः अस्ति।

भा०—शृगालने हिरण के बन्धन को बार-बार देख कर मन में सोचा कि 'यह बन्धन तो बड़ा मजबूत है'। और कहा कि—'मित्र हिरण ! स्नायु के बनाये हुए ये जाल हैं। आज रविवार के रोज मैं दाँतों से उनका स्पर्श कैसे करूँ ? क्योंकि रविवार को मांस खाना निषिद्ध है। मित्र मृग ! यदि तुम अपने चित्त में विपरीत नहीं मानो तो सुबह क्षेत्रस्वामी के आगमन से पूर्व ही जो तुम कहोगे सो मैं करूँगा'। इसके बाद वह कौआ सायंकाल के समय मृग को नहीं आया देखकर इधर-उधर खोजते खोजते बन्धन में फँसे हुए मृग को देखकर बोला—'सखे मृग ! यह बन्धन कैसे हुआ ?' मृग बोला—'मित्र का वचन नहीं मानने का यह फल है'। कहा भी है:—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७५ ॥

अ०—यः हितकामानां सुहृदां भाषितं न शृणोति, तस्य विपत् सन्निहिता, सः =

नरः शत्रुनन्दनः । व्या०—यः = जनः, हितकामानां = हितम् अनुकूलम् इष्टं कामयन्ते इति हितकामाः तेषां = हितार्थिनाम्, सुहृदाम्—शोभनं हृदयं येषान्ते तेषां= बन्धूनाम् , भाषितम् = उपदेशवचनम् , न शृणोति = नाङ्गीकरोति, तस्य=जनस्य, विपत् = विपत्तिः, सन्निहिता = उपस्थिता निकटवर्तिनी भवति, सः=तादृशः, नरः= जनः, शत्रुनन्दनः = नन्दयतीति नन्दनः, शत्रूणामानन्दकरो भवतीति ।

भा०—जो लोग हितकारक मित्रों के वचनों को नहीं मानते हैं उनको आपत्तियाँ शीघ्र आती हैं और वे शत्रुओं के आनन्ददाता बन जाते हैं, क्योंकि उनको आपत्तिग्रस्त देखकर शत्रु लोग खुश होते हैं ॥ ७५ ॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः काऽऽस्ते ?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव' । काको ब्रूते—'मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम् ।'

व्या०—काकः ब्रूते = कथयति, सः वञ्चकः = प्रतारकः शृगालः, क्व = कस्मिन्प्रदेशे, आस्ते = तिष्ठति ? मृगेण उक्तम्—मन्मांसार्थी = मम मांसम् अर्थयते इति मन्मांसार्थी शृगालः, अत्रैव = प्रदेशे, तिष्ठति । काकः ब्रूते-मित्र मृग ! मया पूर्वं= प्रागेव, उक्तम् = अभिहितम् ।

भा०—काक बोला—'वह ठग शृगाल कहाँ है ?' मृग ने कहा—'मेरा मांस खाने की इच्छा रखने वाला वह यहीं हो है' । काक ने कहा—'वह तो मैंने प्रथम ही कहा था' ।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७६ ॥

अ०—मे अपराधः न अस्तीति एतद् विश्वासकारणं न, हि नृशंसेभ्यः गुणवतामपि भयं विद्यते । व्या०—मे=मम, अपराधः=दोषः, नास्ति=न विद्यते, इति एतत्= एतावच्चिन्तनम् , विश्वासकारणं—विश्वासस्य कारणं विश्वासकारणं=निसर्गकरं प्रत्ययहेतुः, न भवतीति शेषः । हि निश्चयार्थः । नृशंसेभ्यः = नॄन् शंसन्ति हिंसन्ति ये ते नृशंसाः तेभ्यः, गुणवतामपि—गुणाः सन्ति येषामिति गुणवन्तः तेषां=निरपराधानामपीत्यर्थः । भयम् = अनिष्टाशङ्का, भवत्येव ।

भा०—'मेरा कुछ भी अपराध नहीं है ! इसलिये यह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं करेगा' ऐसा विश्वास कभी नहीं रखना चाहिये ! क्योंकि क्रूर पुरुष निरपराधियों का भी पूर्ण अनिष्ट करता है, अतः उनसे डर रहता है ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गताऽऽयुषः ॥ ७७ ॥

अ०—गतायुषः दीपनिर्वाणगन्धं न जिघ्रन्ति, सुहृद्वाक्यं न शृण्वन्ति, अरुन्धतीं न पश्यन्ति । व्या०—गतम् आयुः येषान्ते गतायुषः = निकटनिधना जनाः दीप-

निर्वाणगन्धं-दीपस्य निर्वाणं विनाशः तेन यो गन्धः कार्पासवर्तिनिर्गतधूमगन्धः तं न जिघ्रन्तीति । एवं सुहृदां = मित्राणाम्, वाक्यमपि न शृण्वन्तीति। एवम् अरुन्धतीम् = सप्तर्षिमंडलस्थम् अरुन्धतीनामकनक्षत्रमपि न पश्यन्तीति ।

भा०—जिनका मरण समय समीप आया होता है, उनको दीप बुझने पर धूम की गन्ध मालूम नहीं होती तथा वे मित्र का वाक्य नहीं मानते और उन्हें अरुन्धती तारा दिखाई नहीं पड़ती है ॥ ७७ ॥

> परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
> वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ७८ ॥

अ०—परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनं तादृशं मित्रं पयोमुखं विषकुम्भमिव वर्जयेत् । व्या०—परोक्षे—अक्ष्णोः परं परोक्षं तस्मिन् परोक्षे=असमक्षे इत्यर्थः। कार्यहन्तारम्=कार्यस्य स्वेष्टकार्यस्य हन्ता व्याघातकः तम्, अथ च प्रत्यक्षे=समक्षे, तु प्रियवादिनम्=प्रियम् अनुकूलं वदति इति प्रियवादी तम्=मधुरभाषिणमित्यर्थः। तादृशं—स इव दृश्यते इति तादृशः तम्=एतादृशम्, मित्रं=सुहृदम्, वर्जयेदित्यत्रान्वयः। तत्र दृष्टान्तमाह-विषकुम्भमिति । यथा पयोमुखम् = पयः दुग्धं जलं वा मुखे मुखभागे यस्य सः पयोमुखः, अथ च अन्तस्तु विषं यस्य इत्येतादृशं विषस्य गरलस्य कुम्भमिव वर्जयेदित्यर्थः ।

भा०—परोक्ष में कार्य नष्ट करने वाले और समक्ष में मधुर २ बोलने वाले मित्र को अन्दर से जहर और ऊपर से दूध से पूर्ण घट की तरह त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य उवाच—'अरे वञ्चक ! किं त्वया पापकर्मणा कृतम् ।'

व्या०—ततः=अनन्तरम्, काकः दीर्घं निःश्वस्य=लम्बश्वासं विमुच्य, उवाच= प्राह, अरे रे वञ्चक=धूर्त ! शृगाल !, पापकर्मणा=पापम् अनिष्टजनकं कर्म व्यापारो यस्य सः तेन पापाचरणेन त्वया, किमिदम् अनिष्टं कृतमिति ? ।

भा०—उसके बाद काकने लम्बा निःश्वास छोड़कर कहा—रे धूर्त शृगाल ! पापकर्म करनेवाले तूने यह क्या अनिष्ट किया ? ।

> यतः—संलापितानां मधुरैर्वचोभिर्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
> आशावतां श्रद्दधतां च लोके किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ॥७९॥

अ०—लोके मधुरैर्वचोभिः संलापितानाम् , मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम्, श्रद्दधताम् आशावतां च अर्थिनां किं वञ्चयितव्यमस्ति ? । व्या०—लोके = जगत्याम् , मधुरैः=प्रियैः, वचोभिः=वाक्यैः, संलापितानां=सम्भाषितानां प्रलोभितानामित्यर्थः। एवं मिथ्योपचारैः=मिथ्याः कापट्यपूर्णा उपचाराः व्यवहाराः तैः,वशीकृतानाम्=अव-

शिनः वशिनः कृताः तेषां = वशमानीतानामित्यर्थः। श्रद्दधतां = श्रद्धां विश्वासं च कुर्वताम्, आशावताम्=आशाः स्वेष्टप्राप्तिविषयका मनोरथविशेषाः ताः सन्ति येषां तेषाम् = अर्थिनामित्यर्थः। किं = किं कार्यम्, वञ्चयितव्यं = वञ्चनया साधितव्यम्, अस्ति ? न किमपीत्यर्थः। उपजातिः वृत्तम्।

भा०—जगत् में मधुर वचनों से प्रलोभित किये हुए तथा कपट से वश में किये हुए एवं श्रद्धालु और आशावाले जनों को वञ्चित करना कोई अच्छा काम नहीं है, इसलिए तुमने यह काम अच्छा नहीं किया ॥ ७९ ॥

अन्यच्च—उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे! कथं वहसि ॥८०॥

अ०—यः उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ पापं समाचरति, असत्यसन्धं तं जनं हे भगवति वसुधे! (त्वं) कथं वहसि ? व्या०—यः=जनः, उपकारिणि–उपकरोतीति उपकारी तस्मिन् = उपकारतत्परे, विश्रब्धे = कृतविश्वासे, शुद्धमतौ=शुद्धा अकपटा विमला मतिर्यस्य सः तस्मिन् = कपटरहिते, एतादृशे जने, पापं = कपटव्यापारम्, समाचरति=सम्यग् ज्ञात्वा करोति। असत्यसन्धम्=असत्ये कापट्यव्यवहारे सन्धा= प्रतिज्ञा यस्य तं प्रतारणप्रधानम्, तं तादृशम्, जनम्, हे भगवति! =ऐश्वर्यशालिनि पूज्ये वसुधे!=वसुन्धरे! त्वं कथं=केन प्रकारेण वहसि ?। आर्या जातिः।

भा०—हे भगवति पृथिवी! तुम ऐसे लोगों को कैसे धारण करती हो ? जो उपकारी, शुद्ध विचार वाले एवं विश्वस्त जनों के साथ विश्वासघात का पाप करते हैं ॥ ८० ॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चाऽपि न कारयेत्।
उष्णो दहति चाऽङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८१ ॥

अ०—दुर्जनेन समं वैरं सख्यं चापि न कारयेत्। उष्णः अङ्गारः करं दहति शीतश्च करं कृष्णायते। व्या०—दुष्टः जनः दुर्जनः तेन=खलेन समं=सार्धं, वैरं=शत्रुतां, तथा सख्यं=मित्रतां चापि न कारयेत्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति–उष्ण इति। उष्णः= प्रदीप्तः, अङ्गारः = अलातम्, करं = तत्स्पृष्टं हस्तं दहति, अथ च शीतः अनुष्णः सः 'कृष्णल' इत्यर्थः, करं कृष्णायते = कृष्णं करोति।

भा०—दुर्जन से वैर अथवा मित्रता कुछ भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह दोनों स्थिति में अनिष्ट करता है, जैसे तप्त अङ्गार छूने से हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर छूने से काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

भा०—अथवा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८२ ॥

अ०—मशकः खलस्य सर्वं चरितं करोति, प्राक् पादयोः पतति, पृष्ठमांसं खादति, कर्णे किमपि विचित्रं कलं शनैः रौति, छिद्रं निरूप्य अशङ्कः सहसा प्रविशति। व्या०--मशकः = मशकजातीयः स्वेदजविशेषः, खलस्य = दुष्टजनस्य सर्वं = बहुविधम्, चरितम्=आचरणं करोति। तदेव दर्शयति—प्रागिति। प्राक्=पूर्वम् अग्रे समीप इत्यर्थः। पादयोः = जनानां चरणयोः, पतति, ततः पृष्ठमांसं=पृष्ठे मांसं पृष्ठ-मांसं पृष्ठे उपविश्य मांसं खादति। कर्णे च गत्वा विचित्रं कलं मधुरं च किमपि कापट्यमयं शनैः शनैः रौति, छिद्रं=प्रवेशद्वारं, निरूप्य=उपलभ्य, अशङ्कः=अभीतः सन्, सहसा = झटिति, प्रविशति। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

भा०—मशक में खल पुरुष का सब चरित्र मिलता है—जैसे कि मशक प्रथम पैरों पर गिरता है, पीछे पीठ पर मांस खाता है, कानों में आकर कापट्ययुक्त बोलता है और छिद्र देखकर अन्तःप्रवेश करता है ॥ ८२ ॥

तथा च—दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ ८३ ॥

अ०—दुर्जनः प्रियवादी चैतत विश्वासकारणं न, जिह्वाग्रे मधु तिष्ठति हृदि तु हालाहलं विषम्। व्या०--दुर्जनः = खलः, प्रियवादी—प्रियं वदतीति प्रियवादी = मधुरभाषी, एतत् = प्रियवादित्वं विश्वासकारणं = विश्वासस्य कारणं तु न भवति, यतः दुर्जनस्य जिह्वाग्रे-जिह्वाया अग्रः तस्मिन् = रसनाग्रभागे, मधु = सुमधुरं वचो-मात्रं तिष्ठति, अथ च हृदि = अन्तःकरणे तु हालाहल विषं तिष्ठतीति।

भा०—दुर्जन पुरुष प्रिय बोलता है, लेकिन प्रियवचन से ही उसका विश्वास नहीं करना, क्योंकि उसकी जीभ में ही मधुरता रहती है, अन्तःकरण में तो कापट्यरूपी जहर भरा रहता है ॥ ८३ ॥

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशम् आगच्छन् काकेना-ऽवलोकितः। तमवलोक्य काकेन उक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ, अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा किमपि विलिखामि, यदा अहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः, अथा-ऽसौ—'आः स्वयं मृतोऽसि?'—इत्युक्त्वा मृगं बन्धनात् मोचयित्वा पाशान् संवरीतुं (संग्रहीतुं) सत्वरो (सयत्नो) बभूव। ततः

कियद्दूरे अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायितः । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः ।

व्या०— अथ = अनन्तरम्, प्रभाते, लगुडहस्तः लगुडो हस्ते यस्य सः एतादृशः, क्षेत्रस्य पतिः स्वामी, तं प्रदेशं प्रति आगच्छन् = आव्रजन् , काकेनावलोकितः=दृष्टः काकेन तं क्षेत्रपतिम् अवलोक्य उक्तम् = मृगाय अभिहितम्–सखे मृग ! त्वम् आत्मानं=स्वशरीरं, मृतवत् = मृतमिव, सन्दर्श्य = दर्शयित्वा, उदरं वातेन = पवनेन, पूरयित्वा, पादान् = चरणान् स्तब्धीकृत्य=अस्तब्धान् स्तब्धान् कृत्वा इति स्तब्धीकृत्य, स्थिरीकृत्येत्यर्थः । तिष्ठ = अवस्थानं कुरु, अहं चञ्च्वा = चञ्चग्रेण, चक्षुषी = लोचने, किमपि = शनैः शनैः, विलिखामि = विकर्षामि, यदा अहं शब्दं = निनादं, करोमि = करिष्यामि, तदा, त्वं सत्वरं = झटिति, उत्थाय, पलायिष्यसे = धावित्वा अन्यप्रदेशं गमिष्यसीति । स मृगः काकस्य वचनेन = उपदेशानुसारेण, तथैव = यथाकथितं तदवस्थ एव, स्थितः = अवतस्थे । ततः तदुत्तरं, क्षेत्रपतिना= क्षेत्रस्य पतिः तेन, हर्षोत्फुल्ललोचनेन हर्षेण उत्फुल्ले लोचने यस्य सः तेन = पाशबद्धमृगदर्शनजन्यानन्दप्रयुक्तविस्फारितनेत्रेण तथाविधः = तादृशी विधा पाशबद्धाऽवस्था यस्य सः तादृशः, मृगः = हरिणः आलोकितः, अथ = आलोकनानन्तरम् , असौ = क्षेत्रपतिः, आः = आश्चर्ये, हर्ष अव्ययम् । स्वयं=स्वेनैव मत्प्रयत्नमन्तरेणैव, मृतोऽसि = निधनं गतोऽसि त्वम्, इत्येतत् उक्त्वा मृगं, बन्धनात् = पाशात् , मोचयित्वा = मुक्तबन्धं कृत्वा, पाशान् = विस्तीर्णजालानि, संवरीतुं = सङ्क्षेप्तुम्, संहर्तुमिति यावत् , सत्वरः = शीघ्रयत्नो बभूव । ततः = अनन्तरं क्षेत्रपतौ, कियद्दूरे = किञ्चित् दूरम् , अन्तरिते=व्यतिगते सति, स मृगः काकस्य शब्दं पूर्वकृतसङ्केतानुसारं श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायितः = प्रधावितवान् । तं= पलायमानं मृगम् , उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात्—क्रोधात् , निक्षिप्तेन = बलात् क्षिप्तेन, लगुडेन = दण्डेन, शृगालः = मध्ये स्थितो वञ्चको जम्बूकः, व्यापादितः = मारितः मरणं गत इति भावः ।

भा०—उस के बाद प्रभात में काक ने उस खेत के मालिक को हाथ में डण्डा लेकर खेत में आते हुए देखा । उसे देख कर काक ने कहा—'मित्र हरिण ! तुम अपने को मृत के सदृश दिखाकर, श्वास से पेट को फुलाकर, पैरों को कड़ाई से फैलाकर पड़े रहो, मैं चोंच से तुम्हारी आंखों को धीरे-धीरे नोचता (छूता) हूँ, जब मैं बोलूँ, उसी समय तुम उठ कर एकदम भाग जाना' । वह मृग काक के कहने से वैसा ही मृतवत् हो गया. तदनन्तर खेत के मालिक ने (दूर से ही) प्रसन्नतापूर्ण नेत्रों से फँसे हुए मृग को देखा, किन्तु समीप आने पर कहा—'अहा ! अपने से ही मर कर पड़े हो'–ऐसा कहकर मृग को

बन्धन से मुक्त करके जाल को एकत्रित करते करते थोड़ी दूर हटा कि काक का शब्द हुआ और उसको सुनकर मृग एकदम उठकर भागा। तब क्षेत्रपति ने क्रोधित हो कर पीछे से भागते हुए मृग के ऊपर ऐसे जोर से लाठी फेंकी कि उस लाठी से बीच में छिपा हुआ शृगाल मार खाकर मर गया।

तथा चोक्तं—त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अ०—(जनः) अत्युत्कटैः पापपुण्यैः फलम् इहैव त्रिभिः वर्षैः त्रिभिः मासैः त्रिभिः पक्षैः त्रिभिः दिनैः अश्नुते। व्या०—अत्युत्कटैः = अतितीव्रैः, पापपुण्यैः—पापानि च पुण्यानि च तैः=अधर्मधर्माचरणैः, जनिष्यमाणं, फलम्=दुःखसुखात्मकपरिणामम्, इहैव=अस्मिन्नेव जन्मनि, त्रिभिः वर्षैः=वत्सरैः, वर्षत्रयेणेत्यर्थः। त्रिभिर्मासैः=मासत्रयेण, त्रिभिः पक्षैः = पक्षत्रयेण, त्रिभिर्दिनैः = दिनत्रयेण वा, अश्नुते = भुङ्क्ते।

भा०—अतितीव्र पाप पुण्य के फल इसी जन्म में तीन वर्ष में अथवा तीन मास में, तीन पक्ष में या तीन दिन में भोगना पड़ता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

भा०—इसलिये मैं कहता हूँ कि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

(इति मृगवायसशृगालकथा)

काकः पुनराह—(काक ने फिर से कहा)—

भक्षितेनाऽपि भवता नाऽहारो मम पुष्कलः।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ ! ॥ ८५ ॥

अ०—हे अनघ ! भवता भक्षितेनाऽपि मम पुष्कलः आहारो न, त्वयि जीवति चित्रग्रीव इव जीवामि। व्या०—हे अनघ ! निष्पाप ! भवता = त्वया, भक्षितेनाऽपि खादितेनाऽपि, त्वद्भक्षणेनाऽपीत्यर्थः। मम पुष्कलः=परिपूर्णतृप्तिदः, आहारः=भोजनं न भवतीति। किन्तु त्वयि = भवति, जीवति - जीवति इति जीवन् तस्मिन् सति, चित्रग्रीवनामकः कपोतराज इव जीवामि (भविष्यत्सामीप्ये लट्)।

भा०—हे निष्पाप ! हिरण्यक मूषिकराज ! तुमको खाने से मेरा भोजन भी पूर्णरूप से नहीं होगा और तुम्हारे जीवित रहने पर मैं भी चित्रग्रीव के समान बहुत से आनन्द सुख का अनुभव करूँगा ॥ ८५ ॥

अन्यच्च—तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।
सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते ॥ ८६ ॥

अ०—पुण्यैककर्मणां तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः, हि सतां साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते। व्या०—पुण्यैककर्मणां=पुण्यं पुण्यप्रदं शुभमेव एकं कर्म येषां ते पुण्यैक-

कर्माणस्तेषाम्=धार्मिकाणामित्यर्थः । तिरश्चां=पश्वादीनामपि, विश्वासः=विश्रम्भः, दृष्टः=दृश्यते बहुधा । तत्र हेतुमाह=सतामिति । हि=यस्माद्धेतोः, सतां=धार्मिकाणां सत्पुरुषाणाम्, साधुशीलत्वात्-साधु=सौम्यं हितकरं कापट्यरहितं शीलं येषान्ते साधुशीलाः, तेषां भावस्तस्मात् , स्वभावः=स्वेषां भावः हितकरत्वादिसद्गुणाऽनुरूपो निसर्गः, न निवर्तते=कदाचिदपि न विलीयते इति ।

भा०—केवल पुण्यशील कार्यों को करनेवाले पशुओं का भी विश्वास करना चाहिये । क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं उनका सत्स्वभाव कभी नहीं बदलता है ॥ ८६ ॥

किञ्च—**साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।**
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ ८७ ॥

अ०—प्रकोपितस्यापि साधोः मनः विक्रियां न आयाति हि तृणोल्कया सागराम्भः तापयितु न शक्यम् । व्या०—प्रकोपितस्य=प्रकर्षेण कोपितस्य क्रोधितस्यापि, साधोः=सज्जनपुरुषस्य, मनः=चित्तं, विक्रियां=विकारम् न आयाति=न प्राप्नोति, हि, तथा हि तृणोल्कया=तृणस्य घासस्य उल्का अग्निज्वाला तया तृणवह्निशिखयेत्यर्थः । सागराम्भः=सागरस्य समुद्रस्य अम्भः जलम्, तापयितुं=उष्णं कर्तुं, न शक्यमिति ।

भा०—क्रोध दिलाने पर भी सत्पुरुषों के हृदय में कुछ भी विकार नहीं होता है, जैसे घास की अग्नि समुद्र के जल को गरम नहीं कर सकती है ॥ ८७ ॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वम् , चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः' ।

व्या०—हिरण्यकः स मूषिकराजः ब्रूते-त्वं चपलः=चञ्चलप्रकृतिः असि, चपलेन=चपलस्वभावेन जनेन, सह=सार्धम्, स्नेहः सर्वथा=सर्वप्रकारेणापि न कर्तव्य इति ।

भा०—हिरण्यक ने कहा—'तू चपल है, चपल स्वभाववालों के साथ किसी प्रकार से स्नेह नहीं करना चाहिये' ।

तथा चोक्तं—**मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।**
विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नो हितः ॥ ८८ ॥

अ०—मार्जारः महिषः मेषः काकः तथा कापुरुषः एते विश्वासात् प्रभवन्ति, तत्र विश्वासः नो हितः । व्या०—मार्जारः=विडालः, महिषः=लुलायः, मेषः=उरभ्रः, काकः=वायसः, कापुरुषः=कुत्सितः पुरुषः, एते पञ्च विश्वासात्=तेषु विश्वासकरणात् , प्रभवन्ति=अनिष्टं कर्तुं प्रभवः समर्थाः भवन्ति । अत एव तत्र=तेषु पञ्चसु विश्वासः कदाऽपि हितः—हितकरः, नो=न हि, भवति । (नोचित इति पाठान्तरम्) ।

भा०—विडाल, भैंसा, भेड़ा, काक तथा कापुरुष ये पांच विश्वास करने से ही अनिष्ट करने में समर्थ बनते हैं, उनका विश्वास कभी हितकारक नहीं होता ॥ ८८ ॥

किञ्चान्यत्—'शत्रुपक्षो भवानस्माकम् । शत्रुणा सन्धिर्न विधेयः' ।

व्या०—किञ्च अन्यत=अन्यदपि, अविश्वासकारणमस्तीति शेषः। तदेवं दर्शयति शत्रुपक्ष इति । भवान्=त्वं विडालः, अस्माकं=मूषिकाणाम्, शत्रुपक्षः भवतीति । शत्रुणा सह सन्धिः=मेलनं न विधेय इति ।

भा०—और भी, तुम (कौआ) हमारी मूषिक जाति के शत्रु हो, इसलिये शत्रु के साथ मेल नहीं रखना चाहिये ।

उक्तञ्चैतत्—**शत्रुणा न हि सन्दध्यात् संश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना ।**
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८९ ॥

अ०—सुश्लिष्टेनापि सन्धिना शत्रुणा न हि सन्दध्यात्। सुतप्तमपि पानीयं पावकं शमयत्येव । व्या०—सुश्लिष्टेनाऽपि=सुदृढेनापि, सन्धिना=साम्ना मेलनकरणेन, शत्रुणा सह, न हि सन्दध्यात्=नैव सम्मिलेत् । तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—सुतप्तमिति । अग्निना अतीव तप्तमपि पानीयं, पावकम्=अग्निं, शमयत्येवेति ।

भा०—शत्रु के साथ दृढ़ सन्धि करने पर भी उसका पूर्ण विश्वास कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि खौला हुआ भी उष्ण जल अग्नि को नष्ट कर देता है ॥ ८९ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ९० ॥

अ०—विद्ययालङ्कृतः सन् अपि दुर्जनः परिहर्तव्यः, फणिना भूषितः असौ सर्पः किं भयङ्करः न (भवति) । व्या०—विद्यया=सद्विद्यया करणेन, अलङ्कृतः युक्तः सन् अपि, दुर्जनः=दुष्टजनश्चेत् भवेत्, तदा सः, परिहर्तव्यः=त्यक्तव्यः । तथाहि-मणिना भूषितः=शिरोरत्नेन अलङ्कृतः, असौ=एतादृशः, सर्पः=फणी, किमिति प्रश्ने । भयङ्करः=भयावहो न भवति, अर्थात् भवत्येवेत्यर्थः ।

भा०—दुर्जन पुरुष के विद्वान् होने पर भी उसका सर्वथा त्याग रखना ही उचित है क्योंकि मणि से सुशोभित होने पर भी सर्प सदा मरणभय को देने वाला है ॥ ९० ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९१ ॥

अ०—यत् अशक्यं तत् न शक्यम्, यत् शक्यं तत् शक्यमेव, उदके शकटं न याति, स्थले च नौर्न गच्छति । व्या०—यत्=यत्कार्यम्, अशक्यं=सर्वथा साधयितुं न पार्यम्, तत् न शक्यमेव=तत्कार्यं सर्वथा साध्यमेव न भवतीति । अथ च यत् कार्यं, शक्यं=सुसाध्यम्, तत्=कार्यम् सर्वथा शक्यमेव भवति । तथा हि-उदके=जले, शकटं=स्थलयानविशेषः, न याति=न गच्छति । स्थले च, नौः=नौका न गच्छतीति ।

भा०—जो असम्भावित है वह कभी नहीं हो सकता और जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है। जैसे जल में रथ नहीं चलता और स्थल में नौका नहीं चल सकती ॥ ९१ ॥

अपरञ्च—**महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।**
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९२ ॥

अ०—यः महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु विरक्तासु भार्यासु च विश्वसिति, तस्य जीवनं तदन्तं (भवति)। व्या०—यः=जनः, महता अपि=गुरुणाऽपि, अर्थसारेण=श्रेष्ठप्रयोजनेन, शत्रुषु=अनिष्टकारिषु, विरक्तासु=स्वस्मिन्नमनस्कासु, भार्यासु=स्त्रीषु च, विश्वसिति=विश्वासं करोति, तस्य=विश्वस्तजनस्य, जीवनम्=आयुः, तदन्तम्=सः विश्वास एव अन्तो नाशो यस्य तत् तदन्तं भवतीति।

भा०—बड़े भारी प्रयोजन के लिये भी शत्रु में तथा अपने में स्नेहशून्य स्त्री में जो लोग विश्वास रखते हैं, उस विश्वास में ही उनका प्राणनाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि ममैतावानेव सङ्कल्पः, यत् त्वया सह सौहृद्यम् अवश्यं करणीयमिति। अन्यथा अनाहारेणाऽऽत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामीति'।

व्या०—लघुपतनकनामा काकः ब्रूते-मया सर्वं=समस्तं भवदुक्तं, श्रुतम्=आकर्णितम्, तथाऽपि=सर्वस्मिन् श्रुतेऽपि, मम एतावान्=वक्ष्यमाणस्वरूपः, सङ्कल्पः=मनोरथः, अस्तीति शेषः। तदेव दर्शयति—यदिति। त्वया मूषिकेण सह सौहृद्यं=मैत्र्यम्, अवश्यं=निश्चयात्, करणीयं=कर्तव्यमिति। अन्यथा=यदि मैत्र्यं न करिष्यसि, तदा तव द्वारि=अङ्गणे, अनाहारेण=अनशनेन, आत्मानं=शरीरम्, व्यापादयिष्यामि=नाशयिष्यामीति।

भा०—लघुपतनक काक ने कहा—'मैंने तुम्हारा कहना सब सुना, लेकिन मेरा तो यही सङ्कल्प है कि—तुम्हारे साथ मित्रता करना, अगर मित्रता नहीं करोगे तो तुम्हारे द्वार पर ही अनशन व्रत करके प्राण तज दूँगा'।

तथा हि—**मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।**
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ ९३ ॥

अ०—दुर्जनः मृद्घटवत् सुखभेद्यः दुःसन्धानश्च भवति, सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्यः आशु सन्धेयश्च (भवति)। व्या०—दुर्जनः=दुष्टजनः, मृदा निर्मितः घटः मृद्घटः स इव, सुखभेद्यः=सुखेन अनायासेन भेत्तुं ध्वस्तुं शक्यः, दुःसन्धानः=दुष्करं सन्धानं पुनः संयोगो यस्य स एतादृशश्च भवतीति। सुजनस्तु=सज्जनस्तु, कनकघटवत् कनकेन निर्मितः घटः स इव, दुर्भेद्यः दुःखेन महताऽऽयासेन भेत्तुं शक्यः, अथ च आशु=झटिति, सन्धेयः=सन्धातुं योग्यो भवतीति।

भा०—मिट्टी का घड़ा जैसे अल्प प्रहार से भी फूट जाता है और बहुत प्रयत्न करने पर भी फिर उन टुकड़ों का योजन नहीं हो सकता है वैसे ही दुर्जन का सङ्ग भी स्वल्प निमित्त से विनष्ट हो जाता है और अनेक उपाय करने पर भी अच्छी तरह से नहीं हो सकता है और सुवर्ण का घट जल्दी फूटता नहीं है, क्षत होने पर अल्प प्रयास से फिर जुड़ सकता है। वैसे सज्जन का सङ्ग भी अल्प हेतु से नष्ट नहीं होता है और थोड़ा न्यून हो जाने पर भी फिर अल्पप्रयास से सम्पूर्ण बन जाता है ॥ ९३ ॥

किञ्च—द्रवत्वात् सर्वलोहानां निमित्तान् मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात् सताम् ॥ ९४ ॥

अ०—सर्वलोहानां द्रवत्वात्, मृगपक्षिणां निमित्तात्, मूर्खाणां भयाल्लोभाच्च, सतां दर्शनात् सङ्गतं (भवति)। व्या०—सर्वलोहानां = सर्वेषां रजतकाञ्चनादीनां लोहानाम्, द्रवत्वात् = द्रवत्ववत्वात् (मेलनं भवतीति सम्बन्धः)। मृगपक्षिणाम् = मृगाश्च पक्षिणश्च तेषाम्, निमित्तात् = क्षेत्रे वृक्षे वा भोजननिवासादिनिमित्तात्, मूर्खाणां भयात् = कस्माच्चिदापतितत्रासात्, लोभाच्च = किञ्चित्प्राप्त्यभिलाषेण च, सतां = सत्पुरुषाणाम्, दर्शनादेव = परस्परावलोकनमात्रादेव, सङ्गतं = मेलनम्, ऐक्यता इति यावत्। भवतीति शेषः।

भा०—सब प्रकार के धातुओं का मेल द्रवीभाव के कारण से होता है और पशु-पक्षियों का मेल खेतों में भोजनादि निमित्त से तथा मूर्खों का मेल भय से या लोभ से होता है और साधुजनों का मेल दर्शन मात्र से ही हो जाता है ॥ ९४ ॥

किञ्च—नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९५ ॥

अ०—सुहृज्जनाः नारिकेलसमाकारा हि दृश्यन्ते, अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः। व्या०—सुहृज्जनाः = सत्पुरुषाः, नारिकेलसमाकाराः—नारिकेलेन समः सदृशः आकारो येषान्ते = नारिकेलफलवत् बहिः कठिनाः, अन्तस्तु मधुरा इत्यर्थः। दृश्यन्ते जनैरिति शेषः। अन्ये = दुर्जनास्तु, बदरिकाकाराः = बदरिकायाः कोलफलस्य आकार इव आकारो येषान्ते बदरिकाफलवत् अन्तःकषायकीटादिसदृशकापट्यादियुक्ता इत्यर्थः। बहिरेव = उपरित एव मनोहराः = मनः हरन्त इति मनोहराः = दूरतो रमणीया भवन्तीत्यर्थः।

भा०—सत्पुरुष नारियल के फल की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से अति मधुर रहते हैं। दुष्ट जन ऊपर से सुन्दर और भीतर से बैर के फल के समान अन्दर में कीट-कषायादि के समान कापट्यादि दोष से युक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

अत एव सतां सङ्गतिरिष्यते। (अतः सत्पुरुषों की सङ्गति चाहते हैं)।

अन्यच्च—स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९६ ॥

अ०—साधूनां स्नेहच्छेदेऽपि गुणाः विक्रियां न आयान्ति, हि मृणालानां भङ्गेऽपि तन्तवः अनुबध्नन्ति । व्या०—साधूनां = सज्जनानाम्, स्नेहच्छेदेऽपि = स्नेहस्य प्रणयस्य छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, गुणाः दयापरहितकरत्वादयः, विक्रियाम् = अन्यथाभावं, न आयान्ति = न प्राप्नुवन्ति, हि = तथा हि, मृणालानां = कमलनालानाम्, भङ्गेऽपि = छेदे सत्यपि, तन्तवः = तदन्तःस्थसूक्ष्मसूत्राणि, अनुबध्नन्ति = सुसंश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति ।

भा०—साधुजनों का स्नेह टूटने पर भी उनके गुण सदा सद्‌गुण ही रहते हैं, दुर्गुण नहीं हो जाते । क्योंकि कमल का नाल टूट जाने पर भी उनके अन्तर्नाल में ग्रथित तन्तु अलग नहीं होते हैं ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यञ्चाऽनुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्‌गुणाः ॥ ९७ ॥

अ०—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सुखदुःखयोः सामान्यं दाक्षिण्यम् अनुरक्तिः सत्यता च सुहृद्‌गुणाः । व्या०—शुचित्वं = पवित्रता अकृत्रिमत्वमित्यर्थः । त्यागिता = दानशीलता, शौर्यं = वीरता, सुखदुःखयोः = सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे, तयोः सुखदुःखयोः सुखे च दुःखे चेत्युभयत्र, सामान्यम् = समानभावः, दाक्षिण्यम् = औदार्यं सारल्यं च, अनुरक्तिः = सदाऽनुरागः, सत्यता = सत्यस्य भावः, एतानि सर्वाणि, सुहृद्‌गुणाः = सुहृदः गुणाः, मित्रगुणा भवन्ति ।

भा०—पवित्रता, दानशीलता, शूरता, सुख-दुःख में समानता, उदारता, अनुराग, सत्यता ये सब मित्र के गुण हैं ॥ ९७ ॥

'एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः ?' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिः निःसृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवतामेतेन वचनामृतेन' ।

व्या०—एतैः = प्रदर्शितरूपैः, गुणैः = स्वधर्मैः, उपेतः = युक्तः, भवदन्यः = भवतः मूषिकात् अन्यः अपरः, कः सुहृत् = मित्रभूतः, प्राप्तव्य इति । हिरण्यकोऽपि इत्यादि तद्वचनं = तस्य काकस्य वचनं विश्वासपूर्णवाक्यम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा, बहिः = विवराद् बहिर्भागे, निःसृत्य = निर्गत्य, आह—भवतां = पूज्यानाम्, एतेन = पूर्वोक्तेन, वचनामृतेन = वचनम् अमृतमिव तेन अहम् आप्यायितः = द्रवीकृतः, संतोषित इत्यर्थः ।

भा०—'इन सब गुणों से युक्त तुम्हारे बिना दूसरा कौन मित्र मिलेगा ?' इत्यादि वचन को सुनकर हिरण्यक अपने विवर से बाहर निकल कर बोला—'आह ! आपके अमृत वचनों से मैं बहुत प्रसन्नचित्त हुआ हूँ' ।

तथा चोक्तम्—घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥९८॥

अ०—सद्युक्त्या परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमं च सज्जनभाषितं यथा चेतसः प्रीत्यै प्रायः प्रभवति, तथा घर्मार्त्तं सुशीतलजलैः स्नानं न, मुक्तावली न, प्रत्यङ्गमर्पितं श्रीखण्डविलेपनम् अपि न सुखयति । व्या०—सद्युक्त्या=उत्तमदृष्टान्तादिना, परिष्कृतम्=स्फुटार्थकम्, सुकृतिनां=पुण्यवताम् , आकृष्टिमन्त्रोपमम्= आकृष्टिः आकर्षणं तदर्थं यो मन्त्रः स एव उपमा यस्य तत् वशीकरणमन्त्रसदृशं च सज्जनभाषितं=महाजनवचनम्, यथा=यादृक्, चेतसः प्रीत्यै, प्रायः=अधिकतया प्रभवति=समर्थं भवति तथा=तादृक्, घर्मार्तं=घर्मेण ग्रीष्मोष्मणा आर्तः तापितः तम्, तादृशं जनमित्यर्थः (कर्म) । सुशीतलजलैः=सुशीतलानि च तानि जलानि च तैः अतिशीतलजलैः, कृतं स्नानं (कर्तृ) न सुखयति (शीतलयति) इत्यन्वयः । एवं मुक्तावली=मुक्तादाम अपि न सुखयति, एवं प्रत्यङ्गम्=अङ्गे अङ्गे इति प्रत्यङ्गं सर्वाङ्गे इत्यर्थः । अर्पितं=चर्चितम्, श्रीखण्डविलेपनम्=श्रीखण्डस्य चन्दनस्य विलेपनं च न सुखयतीति । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ।

भा०—सुन्दर नीतिमय युक्तियों से स्फुटार्थ युक्त, वशीकरण मन्त्र के समान तेजस्वी सुहृज्जन का वचन जितना चित्त को प्रसन्न करता है उतना ग्रीष्मतापतप्त जन को शीतल जलों से स्नान, मुक्ताहार तथा प्रत्यङ्ग में लिप्त चन्दन भी शान्ति नहीं देता है ॥

अन्यच्च—रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ ९९ ॥

अ०—रहस्यभेदः याच्ञा नैष्ठुर्यं चलचित्तता क्रोधः निःसत्यता द्यूतञ्च एतत् मित्रस्य दूषणम् अस्ति ।

व्या०—रहस्यस्य=गुप्तमन्त्रस्य भेदः = अन्यत्र प्रकाशनम्, याच्ञा=धनादीनां प्रार्थना, नैष्ठुर्यं=क्रूरता निर्दयता, चलचित्तता=चलम् अव्यवस्थितं चित्तं मनः तस्य भावः, क्रोधः=कोपः, निःसत्यता=असत्यता मिथ्यावादित्वम्, द्यूतम्=अक्षक्रीडा च, एतत् सर्वं मित्रस्य=सुहृद्भावस्य, दूषणं=भङ्गकरत्वात् दूषणरूपमित्यर्थः ।

भा०—गुप्तवार्ता को अन्यत्र प्रकाश करना, धनादिक का माँगना, क्रूरता रखना, चित्त की अव्यवस्थितता, क्रोध रखना, असत्य बोलना, द्यूत खेलना ये सब मित्रता के दूषणरूप हैं ॥ ९९ ॥

अनेन वचनक्रमेण तत् एकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते ।

व्या०—अनेन=पूर्वोक्तेन, तव वचनक्रमेण=वचनानां क्रमः उत्तरोत्तरकथनम्,

तेन् तत् = पूर्वोक्तम् असुहृदः, एकमपि = तदन्यतममपि, दूषणं त्वयि = भवति, न लक्ष्यते = न प्रतीयते इति ।

भा०—इन सब पूर्वोक्त तुम्हारे वचनों से मालूम होता है कि उनमें से एक भी दूषण तुम्हारे में नहीं है ।

यतः—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुद्ध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते ॥ १०० ॥

अ०—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते, अस्तब्धत्वम् अचापल्यं प्रत्यक्षेण अवगम्यते ॥

व्या०—पटुत्वं = दक्षता, सत्यवादित्वं = सत्यं वदतीति सत्यवादी तस्य भावः, सत्यपरायणतेत्यर्थः । कथायोगेन, कथायाः, वार्तायाः योगः प्रसङ्गस्तेन, बुध्यते=ज्ञायते अनुमीयते । अस्तब्धत्वम्=जाड्यराहित्यम्, उत्साहवत्त्वमिति यावत् । अचापल्यम्=चपलस्य भावः चापल्यं चञ्चलता तन्न भवतीति अचापल्यं स्थिरता, धीरतेति यावत् । प्रत्यक्षेण = दर्शनेनैव, अवगम्यते = प्रतीयते इति ।

भा०—वाक् चतुरता तथा सत्यवादिता ये दोनों वार्तालाप से मालूम होते हैं, और प्रत्यक्ष से तो उत्साह शक्ति तथा धीरता ये दोनों निश्चित होते हैं (अतः तुम मित्रता के योग्य हो) ॥

अपरञ्च—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

अ०—स्वच्छान्तरात्मनः सौहार्दम् अन्यथैव भवेत्, हि शाठ्योपहतचेतसः वाणी अन्यथा प्रवर्तते । व्या०—स्वच्छः=कापट्यादिशून्यः निर्मलः, अन्तरात्मा=अन्तःकरणं मानसं यस्य सः तस्य निर्दोषान्तःकरणस्येत्यर्थः । सौहार्दं = सुहृदो भावः मित्रता, अन्यथैव = अन्यप्रकारेणैव, भवेत्, हि = निश्चयार्थः । अथ च शाठ्योपहतचेतसः= शठस्य भावः शाठ्यं धूर्तता तेन उपहतं व्याप्तं चेतो यस्य तस्य धूर्तस्येत्यर्थः । वाणी= वार्तालापः, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, प्रवर्तते = निःसरतीति ।

भा०—स्वच्छान्तःकरण वाले की मैत्री दूसरी रीति से ही (उत्तम भाव से ही) होती है और शठात्मा पुरुष की तो वाणी दूसरे ढङ्ग से निकलती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

अ०—दुरात्मनाम् मनसि अन्यद् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यद्, महात्मनां मनसि एकं वचसि एकं कर्मणि एकम् । व्या०—दुरात्मनाम्=दुष्टान्तःकरणानां जनानाम् । मनसि=हृदये, अन्यत्=अन्यप्रकारं वर्तते, वचसि=वाक्ये, अन्यत् तदन्यथा वर्तते, कर्मणि=कर्तव्यविषये तु, अन्यत्=वाङ्मनसयोर्विपरीतं वर्तते इति, महात्मनां=महा-

पुरुषाणां तु, मनसि=एकम् एकप्रकारम्, वचसि तदेव एकम्, कर्मण्यपि तदेवैकम्, वाङ्मनःकर्मसु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—खल पुरुषों के अन्तःकरण में कुछ दूसरा ही और कुछ दूसरा ही वचन में रहता है और तीसरा ही कुछ करनी में रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं॥ १०२॥

'तद्भवतु भवतः अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोः अन्योऽन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विश्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

व्या०—तत्=तस्मात् पूर्वोक्तधार्मिकत्वादिहेतोः, भवतः=काकस्य, अभिमतमेव=अभिलषितमेव, भवतु-अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यकः=मूषिकराजः, मैत्र्यं=सख्यम्, विधाय=कृत्वा, भोजनविशेषैः=भोजनानां भक्ष्यभोज्यपदार्थानां विशेषाः नूतनप्रकाराः तैः, वायसं=काकम्, सन्तोष्य=तृप्तं कृत्वा, विवरं=बिलं प्रविष्टः। ततः वायसः=काकः अपि, स्वस्थानं प्रतिगतः। ततः=तस्मात् दिवसात्, प्रभृति=आरभ्य, तयोः=काकमूषिकयोः, अन्योन्याहारप्रदानेन=अन्योन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन, कुशलस्य क्षेमस्य प्रश्नैः, विश्रम्भस्य विश्वासस्य आलापैः कथाभिः, कियत्कालः=कियान् समयः, अतिवर्तते निर्गच्छति। लघुपतनकः काकः एकदा हिरण्यकं मूषिकमाह—सखे! वायसस्य=काकस्य, कष्टेन लभ्यः आहारो यस्मिन् तत् तादृशम्, इदम्=एतत्, स्थानं=स्थलं, वर्तते। तदेतत्=तस्माद्धेतोः एतत्, परित्यज्य=विहाय, स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानं, गन्तुमिच्छामि। हिरण्यकः, ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा 'तुम्हारी इच्छानुसार ही हो' ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके अनेकविध भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने विवर में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—'मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अतः इस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ'। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्॥ १०३॥

अ०—दन्ताः केशाः नखाः नरा स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते, मतिमान् इति विज्ञाय स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ताः=दशनाः, केशाः=कचाः, नखाः=कररुहाः,

नराः=मनुष्याः, स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्तः, न शोभन्ते, अतः मतिमान्=बुद्धिमान्, इति विज्ञाय=इत्येवं सम्यग् विविच्य, स्वस्थानं=स्वस्य आत्मनः स्थानं योग्यपदम्, न परित्यजेत्=विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत् ।

भा०—दांत, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे ॥ १०३ ॥

काको ब्रूते—'मित्र ! कापुरुषस्य वचनमेतत्' ।

भा०—काक ने कहा—'मित्र ! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है ।

यतः—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १०४ ॥

अ०—सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगाः तत्रैव निधनं यान्ति । व्या०—सिंहाः=केसरिणः, सत्पुरुषाः=सज्जनाः, गजाः=करिणः, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य=परित्यज्य, गच्छन्ति । किन्तु काकाः=वायसाः, कापुरुषाः=कुत्सिताः पुरुषाः निर्बलपुरुषाः, मृगाः=हरिणादयः, तत्रैव=स्वनिवासे एव, निधनं=मरणं, यान्ति=गच्छन्ति ।

भा०—सिंह, सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं ॥ १०४ ॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम् ।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १०५ ॥

अ०—मनस्विनः वीरस्य स्वविषयः कः ? विदेशो वा कः स्मृतः, (स) यं देशं श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जितं कुरुते । दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहः यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः आत्मनः तृष्णां छिनत्ति । व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतसः, वीरस्य=शूरस्य, स्वविषयः=स्वस्य विषयः देशः कः ? विदेशः=परदेशः वा कः ? स्मृतः=कथितः । (सः) धीरः, यं, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वोः प्रतापेन अर्जितः स्वायत्तीकृत तम्, भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थः । कुरुते । यतः दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्राः प्रधानदन्ताः, नखाः, लाङ्गुलं=बालधिः (लाङ्गूल इति दीर्घप्रयोगः साधुः, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोनुरोधादनुसन्धेयः) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य सः, एतादृशः सिंहः=मृगेन्द्रः, यद् वनं (कर्म), गाहते=प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=हताः व्यापादिताः ये द्विपेन्द्राः द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः, द्विपानाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः तेषां रुधिरैः

मांसादिभिः, आत्मनः = स्वस्य, तृष्णां जाठरतृप्तिवाञ्छां, छिनत्ति = निवारयति पूरयतीति यावत् । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ।

भा०—सामर्थ्ययुक्त वीर पुरुष को कौन सा अपना देश और कौन सा पर देश है? अर्थात् कोई नहीं । वह जिस देश में जाता है वहां अपने भुजबल से ही जीवनादि वृत्तियों को प्राप्त करके ही रहता है, क्योंकि दन्त, नख, पूँछ ये सब शस्त्र हैं जिनके ऐसा सिंह; जिस वन में जाता है वहां अपने बल से हाथियों को मारकर अपनी जीवनवृत्ति चलाता है ॥१०५॥

हिरण्यको ब्रूते—'मित्र क्व गन्तव्यम् ?

भा०—हिरण्यक ने कहा—'मित्र, कहां जाओगे ?

तथा चोक्तं—चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥ १०६ ॥

अ०—बुद्धिमान् एकेन पादेन चलति, एकेन तिष्ठति, परं स्थानम् असमीक्ष्य पूर्वम् आयतनं न त्यजेत् । व्या०—बुद्धिमान् = बुद्धिर्विद्यतेऽस्यासौ बुद्धिमान् जनः, एकेन पादेन = चरणेन, चलति = गच्छति, एकेन अपरेण च पादेन, तिष्ठति=आधारमवलम्बते, ततः परम् = अग्रिमम्, आगामिस्थानं लक्ष्यम्, असमीक्ष्य = सम्यग् अपरीक्ष्य अनवलोक्य, पूर्वम् = उपलब्धं स्थानं, न त्यजेत् ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर से चलता है और एक पैर से स्थित रहता है, अर्थात् आगे देख देखकर चलता है । इसलिये प्राप्त करने योग्य स्थान की ठीक ठीक परीक्षा किये बिना प्रथम स्थान नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०६ ॥

वायसो ब्रूते—'मित्र ! अस्ति सुनिरूपितं स्थानम् ।' हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत् ?' वायसः कथयति—अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराऽभिधानः कूर्मः सहजधार्मिकः प्रतिवसति । पश्य मित्र !—

व्या०—वायसः=काकः, ब्रूते-मित्र ! हिरण्यक ! सुनिरूपितं=सम्यक् परीक्षितं, स्थानं=स्थलम् अस्ति । हिरण्यकः = मूषिकराजः, अवदत्—'किं तत् ?=किमभिधानं तत्स्थानमिति' । वायसः कथयति—दण्डकारण्ये = दण्डकं च तदाख्यं च तस्मिन् दण्डकाख्येऽरण्ये । कर्पूरवत् गौरम् इति (पुरा दण्डो नाम इक्ष्वाकुवंशीयो राजा शुक्राचार्यस्य कन्यां बलान्नीतवान्, ततः सः कुपितवशिष्ठशापेन भृत्यकलत्रवाहनादिसहितः तत्र विनष्टः, राज्यं च अरण्यं जातम्, तत आरभ्य 'दण्डकारण्य'मिति नाम इति रामायणी कथा) । गौराभिधानं—कर्पूरवत् गौरम् इति कर्पूरगौरम् = शुभ्रजलम्, तदेव गुणानुरूपम् अभिधानं यस्य तदिति । सरः=सरोवरम्, अस्ति=विद्यते । तत्र सरोवरे । चिरकालोपार्जितः=बहुकालेन उपार्जितः मित्रत्वेन प्राप्तः, मे=मम, सुहृत्=मित्रम्, सहजधार्मिकः सहजः धार्मिकः स्वभावात् धर्मप्रियः 'मन्थराभिधानः' मन्थर-

इति नाम यस्य तथोक्तः, कूर्मः = कच्छपः, प्रतिवसति = वासं करोति, मित्र != सखे !, पश्य अवधानं कुरु, शृणु इति यावत्—

भा०—काक ने कहा—'मित्र हिरण्यक ! एक सुपरिचित स्थान है ।' हिरण्यक ने कहा—'कौन सा ?' काक ने कहा—दण्डक वन में कर्पूरगौर नामक सरोवर है, वहाँ पर बहुत काल से परिचित स्वभाव से धार्मिक मेरा प्रिय मित्र 'मन्थर' नाम का कच्छप रहता है । ख्याल करो मित्र !—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् तु महात्मनः ॥ १०७ ॥

अ०—सर्वेषां नृणां परोपदेशे पाण्डित्यं सुकरं, तु कस्यचिन्महात्मनः धर्मे स्वीयम् अनुष्ठानं (सुकरम्) । व्या०—सर्वेषां=यावताम्, नृणां=मनुष्याणाम्, परोपदेशे= परस्मै परस्य वा उपदेशवचनं तस्मिन् , पाण्डित्यम् = पण्डितस्य भावः नैपुण्यम्, सुकरम् = सुखेन क्रियते तत् सुकरम् अकठिनं भवति, तु=किन्तु, कस्यचित् , महात्मनः=सत्पुरुषस्य, धर्मे, स्वीयम्=स्वकीयम्, अनुष्ठानम्=वचनानुरूपवर्तनं भवतीति ।

भा०—परोपदेश करने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों को सहज है । परन्तु— अपने धार्मिक अनुष्ठान का आचरण कोई एक महात्मा ही करता है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्तव्यम् ?

व्या०—स च कूर्मः, भोजनविशेषैः=भोजनानां विशेषा बहुविधत्वं तैः, अनेकविधपक्वान्नैरित्यर्थः । मां = मां काकं, संवर्धयिष्यति = ससम्मानं पालयिष्यति, पुष्टिं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । हिरण्यकः मूषिकः अपि आह—तत्=तस्मात् एतादृशभोजनदातुः मित्रस्य सत्त्वादिति हेतोः, मया = मूषिकेण, अत्र=एतत्स्थले शुष्कभूते प्रदेशे, अवस्थाय = स्थित्वा, किं कर्तव्यम् ? किन्तु गन्तव्यमेवेति भावः ।

भा०—वह कच्छप अच्छे भोजनों से मुझको पुष्ट करेगा । हिरण्यक ने भी कहा— तब तो मैं भी यहाँ रह कर क्या करूँगा ?

यतः—यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०८ ॥

अ०—यस्मिन् देशे सम्मानः न, वृत्तिः न, बान्धवश्च न, कश्चित् विद्यागमश्च न, तं देशं परिवर्जयेत् । व्या०—यस्मिन् देशे = स्थलविशेषे, सम्मानः = सम्यक् मानः सत्कारः, नास्ति, वृत्तिः = जीवनसाधनम्, नास्ति, बान्धवश्च = बन्धुरेव बान्धवः सुहृज्जनः, नास्ति, कश्चिदपि, विद्यागमः = विद्यायाः शिक्षाया आगमः प्राप्तिः नास्ति, तं देशं, विज्ञः पुरुषः अवश्यम् , परिवर्जयेत् = परित्यजेत् ।

भा०—जिस देश में सम्मान, जीविका, बन्धुजन तथा किसी प्रकार की विद्याप्राप्ति न हो उस देश का त्याग करना चाहिये ॥ १०८ ॥

अपरञ्च—धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ १०९ ॥

अ०—यत्र धनिकः श्रोत्रियः राजा नदी पञ्चमस्तु वैद्यः, पञ्च न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत । व्या०—यत्र=यस्मिन्=देशे, धनिकः=धनम् अस्याऽस्तीति धनी स एव धनिकः, श्रेष्ठी जन इत्यर्थः। श्रोत्रियः='जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥' इत्येतादृशः श्रोत्रियः, राजा=प्रजारक्षको नृपतिः, नदी=अखण्डजला सरित्, पञ्चमस्तु वैद्यः श्रेष्ठचिकित्सकः, एते पञ्च यत्र देशे नगरे वा न विद्यन्ते=न सदा निवसन्ति, तत्र तस्मिन् देशे नगरे वा, वासं=निश्चितवसतिम्, न कारयेत् न कुर्यात्, स्वार्थेऽयं णिच्।

भा०—जिस देश में या नगर में धनवान्, वैदिक ब्राह्मण तथा प्रजापालक राजा, जलपूर्ण नदी और पाँचवाँ वैद्य, ये पाँच न रहते हों, उस देश या नगर में वास नहीं करना चाहिये ॥ १०९ ॥

अपरञ्च—लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥ ११० ॥

अ०—यत्र लोकयात्रा, भयं, लज्जा, दाक्षिण्यं, त्यागशीलता, पञ्च न विद्यन्ते तत्र संस्थितिं न कुर्यात् । व्या०—यत्र=यस्मिन् स्थाने, लोकयात्रा=लोकानां जनानां यात्रा जीवनयापनोपायः, भयं=राजादिशासनभयम्, लज्जा=निकृष्टकर्माचरणे त्रपा, दाक्षिण्यम्=औदार्यम् अनुकूलता च, त्यागशीलता=त्यागस्य वितरणस्य शीलं स्वभावो येषान्ते तेषां भावः, दातृत्वमित्यर्थः । एते पञ्च यत्र स्थाने, न विद्यन्त तत्र स्थाने संस्थितिं=सदा वासम्, न कुर्यात् ।

भा०—जिस स्थान में लोकयात्रा (जीविका), राज्यशासन, लज्जा, उदारता और दातृत्व, ये पाँच न हों उस स्थान में वास नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

अन्यच्च—तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १११ ॥

अ०—मित्र ! यत्र ऋणदाता वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी च, चतुष्टयं नास्ति तत्र न वस्तव्यम् । व्या०—हे मित्र ! काक ! यत्र=यस्मिन् प्रदेशे, ऋणदाता=ऋणस्य दाता उत्तमर्णः नास्ति, वैद्यः=विद्या अस्यास्तीति वैद्यः (अण्) सुचिकित्सकः, श्रोत्रियः=श्रुतिमधीते वेत्ति वेति श्रोत्रियः वैदिकब्राह्मणः नास्ति, सजला=जलेन सहिता, यदी सरित् च नास्ति, एतच्चतुष्टयं (चत्वारः अवयवा इति चतुष्टयं, तयप्) यत्र यद्देशे न विद्यते, तत्र स्थाने कदाऽपि न वस्तव्यम् ।

भा०—हे मित्र काक ! जिस देश में ऋण देने वाला तथा वैद्य और वैदिक ब्राह्मण, एवं जलपूर्ण नदी ये चार न हों उस प्रदेश में नहीं बसना चाहिये ॥ १११ ॥

अतो मामपि तत्र नय । वायसोऽवदत्-'एवमस्तु' । अथ वायसस्तेन मित्रेण सह विचित्रालापसुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादेव लघुपतनकम् अवलोक्य उत्थाय यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्याऽप्यतिथिसत्कारं चकार ।

व्या०—अतः अस्मात् स्थानात्, माम् (मूषिकम्) अपि, तत्र=कूर्मस्थले, नय=प्रापय, त्वमिति शेषः । वायसः=काकः, अवदत् एवम्=तथा, अस्तु भवतु इति । अथ=पश्चात्, वायसः=काकः, तेन=मूषिकेण मित्रेण सह, विचित्रालापसुखेन विचित्राश्च ते आलापाः तेभ्यः सुखं तेन, विविधवार्ताजन्याऽऽनन्देनेत्यर्थः। तस्य पूर्वोक्तस्य कर्पूरगौराख्यस्य सरसः, समीपम् अन्तिकं, ययौ जगाम । ततः=सरोनिकटे गमनानन्तरम्, मन्थरः तन्नामा कूर्मः, दूरादेव, लघुपतनकं नाम वायसम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=जलादुत्तीर्य, यथोचितम्=यथायोग्यम्, आतिथ्यं काकस्य सत्कारम्, विधाय=कृत्वा; मूषिकस्य अपि=हिरण्यकस्यापि, अतिथिसत्कारम् आतिथ्यविधानम्, चकारेति ।

भा०—इसलिए मुझे भी वहाँ ले चलो ।' काक बोला-'अच्छा ऐसा ही सही' । उसके बाद काक मित्र हिरण्यक के साथ अनेक वार्तायें करते हुए उस सरोवर के समीप में गया । और—'मन्थर' नामक कच्छप ने दूर से ही 'लघुपतनक' मित्र काक को देखकर उठकर यथायोग्य अतिथि सत्कार करके मूषिक का भी आतिथ्य सत्कार किया ।

यतः—**बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।**
तस्य पूजा विधातव्या सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११२ ॥

अ०—गृहम् आगतः बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा, तस्य पूजा विधातव्या, सर्वत्र अभ्यागतो गुरुः । व्या०—गृहम्=स्वनिवासभूमिम्, आगतः अकस्मादुपस्थितः, बालः यदि वा वृद्धः युवा वा यः—कश्चिद्भवति, तस्य सर्वविधस्य अतिथेः, पूजा=अभ्युत्थानादिना सत्कारपूजा, विधातव्या=कर्तव्या, यतः अभ्यागतः=अतिथिः, सर्वत्र=आश्रमचतुष्टयेऽपि, गुरुः=गुरुवत् सेव्य इति ।

भा०—घर आये हुये बालक अथवा युवा अथवा वृद्ध चाहे कोई भी अतिथि हो, उसकी पूजा तथा सत्कार अवश्य करना चाहिये, क्योंकि सब आश्रमियों के लिये अतिथि गुरुतुल्य है ॥ ११२ ॥

तथा—**गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।**
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११३ ॥

अ०—अग्निः द्विजातीनां गुरुः, ब्राह्मणः वर्णानां गुरुः, पतिः एकः स्त्रीणां गुरुः, अभ्यागतः सर्वत्र गुरुः । व्या०—अग्निः=वह्निः, द्विजातीनां=ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां त्रिवर्णानां, गुरुः=पूजनीयः, पतिः=भर्त्ता एकः=मुख्य एव, स्त्रीणां=नारीणाम्, गुरुः=

पूजनीयः, सेवनीयश्च भवति, अभ्यागतस्तु=अतिथिस्तु, सर्वत्र=सर्वेषु उच्चस्थानेषु, गुरुः सत्करणीय इति।

भा०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों का गुरु अग्नि है, ब्राह्मण चारों वर्णों का गुरु है, स्त्री का पति ही गुरु है और अतिथि सर्वत्र गुरुतुल्य पूजनीय है ॥ ११३ ॥

अपरञ्च—उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ११४ ॥

अ०—उत्तमस्यापि वर्णस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं पूजनीयः, अतिथिः सर्वदेवमयः। व्या०—उत्तमस्य=सर्वश्रेष्ठस्यापि, वर्णस्य ब्राह्मणादीनां चतुर्णामेकतमस्य, गृहं=निवासम्, आगतः अतिथित्वेन समुपस्थितः। नीचः जात्या कर्मणा वाऽपकृष्टोऽपि चाण्डालोऽपि, यथायोग्यं=यथोचितम्, पूजनीयः=सत्करणीयः, यतः, अतिथिः सर्वदेवमयः=सर्वे च ते देवाः तन्मयः तत्स्वरूप इति।

वायसोऽवदत्—'सखे! मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः, एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनाऽपि यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह—'भद्र! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणम् आख्यातुमर्हसि'? हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि श्रूयताम्—

व्या०—वायसः अवदत्—सखे मन्थर! कच्छप! अस्मै हिरण्यकाय=मूषिकराजाय, सविशेषपूजां=विशेषेण सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा पूजां सत्कारम्, त्वं विधेहि। यतः अयं मूषिकराजः, पुण्यकर्मणाम्=पुण्यं कर्म येषान्ते पुण्यकर्माणः, तेषां सुकृतशालिनामित्यर्थः। धुरीणः=धुरि अग्रे स्थितः, अथ च कारुण्यरत्नाकरः कारुण्यस्य=दयायाः रत्नाकरः समुद्रभूतः, अस्तीति। सर्पराजः=सहस्रमुखः शेषनागः, अपि जिह्वासहस्रद्वयेन—लेढि आभिः इति जिह्वाः, जिह्वानां सहस्रं तेन, द्विसहस्ररसनाभिरपि इत्यर्थः। एतस्य=मूषिकराजस्य गुणस्तुतिं गुणानां स्तुतिं वर्णनं कर्तुम् कदाचित्=कस्मिंश्चित् अनिर्धारितकाले, समर्थः=शक्तिमान् पारगश्च स्यात्। इत्युक्त्वा चित्रग्रीवस्य=कपोतराजस्य, उपाख्यानं=वृत्तान्तम्, वर्णितवान्=कथितवान्। ततः तच्छ्रुत्वा, मन्थरः=तन्नामा कच्छपः, हिरण्यकं=मूषिकराजं, सादरम्=आदरसहितं सम्पूज्य=सम्यक् पादप्रक्षालनाऽऽसनदानादिना सत्कृत्य, आह—भद्र!, साधो! मूषिकराज! आत्मनः स्वस्य, तवेति यावत्। निर्जनवनागमनकारणम्=निर्जनं च तत् वनं तस्मिन् आगमनं तस्य कारणं हेतुः तत्, आख्यातुम् आमूलतः वर्णयितुम्,

अर्हसि=योग्योऽसि, हिरण्यकः=मूषिकराजः, अवदत्, कथयामि, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम् ।

भा०—काक ने कहा—सखे मन्थर! इन मूषिकराज की पूजा विशेष रूप से करो, क्योंकि धार्मिकों में अग्रगण्य, करुणा के समुद्ररूप, हिरण्यक नामके ये मूषिकराज हैं, शेषनाग भी दो हजार जीभों से इनके गुणों का वर्णन करने में कदाचिद् (कल्पान्तर में) पार पा सकते हैं। ऐसा कहकर चित्रग्रीव नामक कपोतराज का आख्यान सुनाया। उसके बाद मन्थर नामक कच्छप आदरपूर्वक हिरण्यक की पूजा करके बोला—'सौम्य! भद्र! आपका इस निर्जन वन में आने का क्या कारण हुआ सो बताइये।' हिरण्यक नामक चूहे ने कहा-'कहता हूँ सुनो-

कथा ४

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽऽवसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति। स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहं च तदन्नम् उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः, तेन सह नानाकथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। तं तथाविधं दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्?'

व्या०—चम्पकाभिधानायां='चम्पका'इत्यभिधा यस्याः सा तस्याम्, नगर्यां=पुर्याम्, परिव्राजकाऽऽवसथः=सर्वं परित्यज्य व्रजन्ति इति परिव्राजकाः संन्यासिनः, तेषाम् आवसथः आश्रमः अस्ति। तत्र आश्रमे, 'चूडाकर्णो' नाम='चूडाकर्ण' इति नाम्ना प्रसिद्धः, परिव्राजकः=संन्यासी, प्रतिवसति। स च चूडाकर्णः, भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं=भिक्षया प्राप्तम् अन्नं भिक्षान्नं (मध्यमपदलोपी समासः) ओदनादिकं भोजनात् अदनात् अवशिष्टं च तत् भिक्षान्नं तेन सहितं युक्तम्, भिक्षापात्रम्=काष्ठकपालात्मकं भाजनम्, नागदन्तके=नागस्य करिणः दन्त इव दन्तोऽग्रे यस्य सः नागदन्तः स एव नागदन्तकः नागदन्तसदृशे गृहभित्तौ प्रोथिते दारुमयकीलके इत्यर्थः। अवस्थाप्य=निधाय, स्वपिति=निद्रां करोति। अहञ्च उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं प्रतिदिनं, तदन्नम् अवशिष्टान्नं भक्षयामि। अनन्तरं=कियति समये गच्छति सति चूडाकर्णस्य प्रियसुहृद्, 'वीणाकर्णो' नाम परिव्राजकः संन्यासी, समायातः उपस्थितः, चूडाकर्णः संन्यासी तेन वीणाकर्णेन संन्यासिना सह नानाकथाप्रसङ्गावस्थितः नाना बहुविधाः याः कथाः तासां प्रसङ्गः अवतारणं तस्मिन् अवस्थितः समासक्तः अपि, मम त्रासार्थं त्रासाय इदमिति त्रासार्थम्, मम भयप्रदर्शनार्थम्, जर्जरवंशखण्डेन वंशस्य खण्डः वंशखण्डः, जर्जरः जीर्णः वंशखण्डः यष्टिकारूपः तेन, भूमि-

म्=आश्रयभूमिम्, अताडयत्=ताडितवान्। तं चूडाकर्णम्, तथाविधम् अन्यमनस्कं, दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे ! चूडाकर्ण ! किमिति किमर्थम् , मम कथाविरक्तः कथायां विरक्तः निरनुरागः, अन्यासक्तः अन्यमनस्कः, भवान् भवतीति शेषः।

भा०—चम्पका नाम की नगरी में संन्यासी का आश्रम है, उसमें 'चूडाकर्ण' नाम का एक संन्यासी रहता है, वह भिक्षान्न को-भोजन करके अवशिष्टान्न को पात्र में रखकर खूँटी पर लटकाकर सो जाता था। तब मैं प्रतिदिन कूद-कूद कर उस अन्न को खाता था। एक बार उस चूडाकर्णका प्रियमित्र 'वीणाकर्ण' नाम का संन्यासी वहाँ आया और चूडाकर्ण वीणाकर्ण के साथ विविध कथाओं में लग्नचित्त होने पर भी मुझे डराने के लिये पुराने जरजर बाँस के टुकड़े से जमीन में ताडन करता था। तब ताडन करते हुए उसको देखकर वीणाकर्ण ने कहा 'मित्र तुम मेरी कथा को छोड़कर अन्यत्र मन क्यों करते हो ?'

यतः—**मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी।**
स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनञ्च सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥११५॥

अ०—मुखं प्रसन्नम् , दृष्टिश्च विमला, कथाऽनुरागः, वाणी च मधुरा, स्नेहः अधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च सदा अनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म। व्या०—मुखं=वदनम् , प्रसन्नं=सहर्षं शोकशून्यमित्यर्थः। दृष्टिः=अवलोकनम् , विमला=भ्रूभङ्गादिक्रूरताशून्येत्यर्थः, कथाऽनुरागः=कथाया वचने अनुरागः उत्साहः प्रवचनोत्साह इत्यर्थः। वाणी=वाक् च मधुरा=कटुताशून्या मनोरञ्जनीत्यर्थः। स्नेहः=प्रीतिः अधिकः=परिपूर्णः। सम्भ्रमदर्शनम्=सम्भ्रमेण तृष्णया दर्शनम् अवलोकनम् , पुनः पुनर्दर्शनमित्यर्थः, एतत् सदा=सर्वदा, अनुरक्तस्य=स्नेहपराकाष्ठां गतस्य जनस्य=मित्रस्य, लक्ष्म=चिह्नं भवतीति। (उपजातिवृत्तम्)

भा०—मुख पर प्रसन्नता, प्रेमवर्षिणी दृष्टि, बातों में प्रीति, वाणी में मधुरता, अत्यन्त स्नेह, बारम्बार देखना, ये छः चिह्न सदा प्रेमी पुरुष में होते हैं ॥ ११५ ॥

अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनममाननं दुश्चरिताऽनुकीर्तनम्।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥ ११६ ॥

अ०—अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनम् अमाननं दुश्चरितानुकीर्तनम्, कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिः, जनस्य विरक्तभावस्य लक्षणम्। व्या०—दृष्टिः दर्शनं तस्या दानं दृष्टिदानं तन्न भवतीति अदृष्टिदानम्=अवीक्षणम्। कृतपूर्वनाशनम्=पूर्वं कृतमिति कृतपूर्वम्, तस्य नाशनम्=प्राक्कृतोपकारस्याऽनङ्गीकरणम् , अमाननम्=न माननम् अमाननम्=सत्काराऽभाव इत्यर्थः। दुश्चरितानुकीर्तनम्=दुः दुष्टानि गर्ह्याणि च तानि चरितानि तेषां केवलम् अनुकीर्तनम् इत्यर्थः। कथाप्रसङ्गेन=कथानां वार्तानां प्रसङ्गेन प्रासङ्गिकवार्तायामपीत्यर्थः। नामविस्मृतिः नाम्नः विस्मृतिः एतत् सर्वं जनस्य मनुष्यस्य, विरक्तभावस्य=उदासीनताया लक्षणं चिह्नं भवतीति।

भा०—दृष्टि न देना, किये हुए उपकार का अनङ्गीकार करना, सत्कार नहीं करना, दुराचरण को प्रकाशित करना, वार्ता प्रसङ्ग में याद भी नहीं करना, ये पाँच चिह्न मनुष्यों के विरक्त भाव को बताने वाले हैं ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णेन उक्तम्—'भद्र ! नाहं विरक्तः, किन्तु पश्य अयं मूषिको ममाऽपकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति' । वीणाकर्णो नागदन्तमवलोक्याह—'कथमयं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद् दूरमुत्पतति ? तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् ।'

व्या०—चूडाकर्णेन संन्यासिना उक्तम्, भद्र सौम्य ! अहं न विरक्तः त्वया सह कथायाम्, किन्तु पश्य अवलोकय, अयम् अग्रवर्ती मूषिकः, मम अपकारी अपकरोति इति अपकारी हानिकर्ता, सदा प्रत्यहम्, उत्प्लुत्य, पात्रस्थं भिक्षायाः पात्रे तिष्ठतीति तादृशम् , भिक्षान्नम् , भक्षयति खादति इति तद्भयार्थं भूमिं ताडयामि, न तु तव कथायामपि विरक्तो भवामीति भावः। वीणाकर्णः संन्यासी, नागदन्तं=भित्तिप्रोथितम् अत्युच्चप्रदेशस्थं तं कीलकम्, अवलोक्य आह–'अयं मूषिकः, स्वल्पबलः अपि=स्वल्पं कीलकप्राप्त्यर्थमपरिपूर्णं बलम् उत्पतनसामर्थ्यं यस्य सः तादृशः सन्नपीत्यर्थः, एतावत् दूरम् अत्युच्चैः उत्पतति, तत् तस्माद् हेतोः, अत्र=उत्पतने, केनाऽपि कारणेन हेतुना भवितव्यम् स्थातव्यमिति ।

भा०—चूडाकर्ण ने कहा—भद्र ! मैं तुम्हारी बातों में विरक्त नहीं हूँ, किन्तु देखो यह चूहा मेरा अपकार करने वाला है । यह रोजाना कूद कर पात्र में से भिक्षान्न को खा जाता है । तब वीणाकर्ण—ऊँची खूँटी को देखकर बोला—यह चूहा थोड़ा बलवाला होने पर भी इतना ऊँचा कैसे कूद सकता है, इसमें कुछ कारण होना चाहिए ।

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति ।'

व्या०—क्षणं=किञ्चित्कालं, विचिन्त्य=विचार्य, उक्तम्=अत्र उन्दुरोः कूर्दने, कारणञ्च—हेतुस्तु, धनबाहुल्यमेव=धनस्य भूमिनिक्षिप्तद्रव्यस्य बाहुल्यं विपुलत्वम् एव, प्रतिभाति=विज्ञायते इति ।

भा०—संन्यासी ने थोड़ी देर तक विचार करके कहा—खूब धन ही इसके कूदने का कारण मालूम होता है ।

यतः—धनवान् बलवांल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ ११७॥

अ०—सर्वः धनवान् लोके सर्वदा बलवान् , हि राज्ञामपि प्रभुत्वं धनमूलम् उपजायते । व्या०—सर्वः=समस्तः, धनवान्=धनमस्याऽस्तीति धनवान् सुव-

र्णादिद्रव्यविभवशाली जनः, लोके = संसारे, सर्वत्र=सर्वस्मिन् प्रदेशे, स्वदेशे परदेशे चेत्यर्थः । सर्वदा = सर्वस्मिन् काले, सुभिक्षे दुर्भिक्षे च समये बलवान्=बलं सर्वविधा शक्तिः तदस्याऽस्तीति बलवान् यावच्छक्तिमान् भवतीति । हि=यतः, राज्ञामपि = नृपतीनामपि, (यत्) प्रभुत्वं नृपतित्वमाधिपत्यमिति यावत् (अस्तीति शेषः) (तदपि) धनमूलम् = धनमेव मूलं यस्य तत् द्रव्यकारणकमेव, उपजायते = [illegible] इति ।

भा०—समस्त धनवान् लोग इस संसार में सर्वत्र सदा ही बलवान् होते हैं, क्योंकि राजा को भी प्रभुता धन के प्रताप से ही प्राप्त होती है ॥ ११७ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसञ्चितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति प्रत्यहं निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साह-रहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दम् उपसर्पन् चूडाकर्णेनाऽवलोकितः । ततस्तेनोक्तम्—

व्या०— ततः = तदनन्तरम् , तेन परिव्राजकेन संन्यासिना, खनित्रम्=खन्यते अनेनेति खनित्रं कुद्दालम् , आदाय = गृहीत्वा, विवरं=मम वासबिलम् , खनित्वा= विदार्य, चिरसञ्चितं=दीर्घसमयेन सङ्गृहीतम्, मम धनं=अर्थजातम् , गृहीतम्=अप-हृतम् । ततः प्रभृति=तस्मात्कालादारभ्य, प्रत्यहं = प्रतिदिवसम्, निजशक्तिहीनः = (अहं) निजस्य शक्तिः शरीरबलम्, तया हीनः शून्यः, सत्त्वोत्साहरहितः=सत्त्वं मनः धनं वा, तस्य उत्साहः धैर्यम् उद्योगो वा तेन रहितः शून्यः सन् । स्वाहारमपि स्वस्य आहारम् उदरपूर्णाक्षम् अपि, उत्पादयितुम्=उपार्जयितुम् । अक्षमः=असमर्थः सन्, सत्रासं = त्रासेन सहितं यथा स्यात् तथा, मन्दं मन्दं = शनैः, शनैः, उपसर्पन् = अटव्यां गच्छन् सन्नहं चूडाकर्णेन = संन्यासिना, अवलोकितः, सः संन्यासी मां दृष्टवानित्यर्थः । ततः = दृष्ट्वा, तेन संन्यासिना, उक्तं = कथितम्—

भा०—उसके बाद खोदने का हथियार लेकर वह संन्यासी बिल को खोदकर बहुत काल से सुरक्षित एकत्रित रखे हुए मेरे धन को ले गया । उस दिन से प्रतिदिन शरीरबल से हीन, मन के उत्साह से शून्य और उदर-पूर्त्यर्थ आहार को भी प्राप्त करने में असमर्थ होता हुआ मैं डरता-डरता और धीरे-धीरे जा रहा था कि चूडाकर्ण नाम के उस संन्यासी ने मुझे देखा और देखकर बोला—

धनेन बलवांल्लोको धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ ११८ ॥

अ०— लोकः धनेन बलवान् , धनात् पण्डितः भवति, एनं पापं स्वजातिसमतां गतं मूषिकं पश्य । व्या०—लोकः = जनः, धनेन=द्रव्येण, बलवान्=सर्वविधसामर्थ्य-

वान् भवति, धनात् च पण्डितः=बहुविधकलाकौशलवेत्ता भवति, एनम्=एतं गच्छन्तं पापं=सत्यपि द्रव्ये परान्नादिहरणात्मकपापकर्तारम्, स्वजातिसमतां गतम्=स्वस्य उन्दुरोः, जातिः जातीया दरिद्रा मूषिकाः तत्समतां धनशून्यतया तत्सदृशतां गतं, मूषिकं पश्य = अवलोकय । त्वमिति शेषः ।

भा०—लोग धन से ही बलवान् तथा धन से ही पण्डित होते हैं, इस पापाचारी अपनी जाति के धर्म (दरिद्रता) को प्राप्त हुए मूषिक को तुम देखो ॥ ११८ ॥

किञ्च—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ११९ ॥

अ०—अर्थेन तु विहीनस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य सर्वाः क्रियाः ग्रीष्मे कुसरितो यथा (तथा) विनश्यन्ति । व्या०—अर्थेन तु = द्रव्येण च, विहीनस्य = विशेषेण रहितस्य, दरिद्रस्येत्यर्थः । अथ च अल्पमेधसः = अल्पा क्षुद्रा मेधा बुद्धिर्यस्य सः तस्य, पुरुषस्य, सर्वाः=समस्ताः, क्रियाः = कार्याणि, ग्रीष्मे = ग्रीष्मसमये, कुसरितः = कुत्सिताः स्वल्पजलाः सरितः नद्यः, यथा नश्यन्ति, तथा विनश्यन्तीति ।

भा०—द्रव्यरहित तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सब क्रियायें ग्रीष्म काल में छोटी नदियों की तरह सूख जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरञ्च—यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥१२०॥

अ०—लोके यस्य अर्थाः तस्य मित्राणि, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवाः, यस्यार्थाः स पुमान्, यस्यार्थाः स हि पण्डितः । व्या०—लोके=संसारे, यस्य यज्जनस्य, अर्थाः= द्रव्याणि, विद्यन्ते, तस्य=पुरुषस्य, सर्वे मित्राणि=असुहृदोऽपि सुहृदो भवन्ति । यस्य च जनस्य, अर्थाः भवन्ति, तस्य पुरुषस्य, सर्वे बान्धवाः=अबान्धवा अपि बान्धवा भवन्ति । यस्याऽर्थाः सन्ति स एव पुमान्, श्रेष्ठपुरुषत्वेन=प्रतिष्ठितव्यक्तित्वेन, ख्याप्यते, यस्य च जनस्य अर्थाः सन्ति, स एव पण्डितवन्मानितो भवतीति ।

भा०—संसार में जिसके पास द्रव्य हो उसके सब मित्र बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो उसीके सब बान्धव भी बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो वह मनुष्य बड़ा गिना जाता है, जिसके पास द्रव्य हो वही पण्डित गिना जाता है ॥ १२० ॥

अपरञ्च—अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२१ ॥

अ०—अपुत्रस्य गृहं शून्यम्, सन्मित्ररहितस्य मूर्खस्य च दिशः शून्याः, दरिद्रता सर्वशून्या । व्या०—अपुत्रस्य=नास्ति पुत्रो यस्य सः तस्य पुत्ररहितस्य मनुष्यस्य, गृहं=निवासभवनम् , शून्यम्=अप्रकाशितम् ; निरर्थकमिव भवतीति । सन्मित्र-

रहितस्य = सत् साधु मित्रं सुहृत् तेन रहितः शून्यः तस्य, चतुरमित्रहीनस्येत्यर्थः। एतादृशस्य, मूर्खस्य च = स्वयं मूढस्य जडस्य च, दिशः = प्राच्यादिदिङ्मण्डलानि, शून्याः = अप्रकाशिता भवन्ति। दृश्यन्ते इति शेषः। दरिद्रता द्रव्यहीनता सर्वशून्या = सर्वविधशून्यतायुक्तेत्यर्थः।

भा०—पुत्ररहित का गृह शून्य सा मालूम पड़ता है, सन्मित्ररहित मूर्ख पुरुष को सब दिशायें शून्य मालूम पड़ती हैं और दरिद्र को तो सब प्रकार की शून्यता मालूम पड़ती है ॥ १२१ ॥

अपरञ्च—**दारिद्र्यान्मरणाद्वाऽपि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।**
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥ १२२ ॥

अ०—यथावद्बोध्यः। व्या०—दारिद्र्यात् = धयशून्यत्वात्, वाऽपि मरणात् मृत्योश्च वा, (ल्यब्लोपे पञ्चमी) दारिद्र्यमपेक्ष्य मरणञ्चाऽपेक्ष्येत्यर्थः। दारिद्र्यं = दरिद्रता, अवरं=न वरम् अवरं हीनं कष्टदम्, स्मृतं = गणितम् (जनैः) दारिद्र्यमरणयोर्मध्ये, मरणं=निधनं तु अल्पक्लेशेन = अल्पश्चासौ क्लेशः कष्टम् तेन भवतीति। दारिद्र्यं तु अतिदुःसहम् = अति अत्यन्तं दुःखेन सह्यते यत् तत् अतिदुःसहम् आजीवनकष्टकरमित्यर्थः।

भा०—दरिद्रता और मरण इन दोनों में दरिद्रता ही अति हीन वस्तु है, क्योंकि मरण का तो थोड़ा सा ही दुःख होता है, दारिद्र्य तो जीवन भर दुःख देता है ॥ १२२ ॥

अन्यच्च—**तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम**
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ १२३ ॥

अ०—तानि अविकलानि इन्द्रियाणि, तदेव नाम, सा अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनम्, स एव पुरुषः अर्थोष्मणा विरहितः क्षणेन अन्यः भवतीति एतद्विचित्रम्।

व्या०—द्रव्यहीनस्येति अध्याहार्यम्। तानि=धनवद्दशायां पुरुषस्य यानि सन्ति तान्येवेत्यर्थः। अविकलानि=विकलानि काणत्वबधिरत्वसहितानि न भवन्ति इत्यविकलानि, इन्द्रियाणि=चक्षुरादीनि सन्ति। तदेव=नाम धनाढ्यावस्थस्य यदेव नाम तदेव नाम अस्तीति। सा=धनवदवस्थायां यादृशी बुद्धिः आसीत् सा तादृशी एव अप्रतिहता तीक्ष्णा, बुद्धिः अपि अस्तीति। तदेव = धनावस्थायां यद्वचनमासीत् तदेव तादृशमेव, वचनं=वाक् अस्ति। स एव=धनाढ्यावस्थः दारिद्र्यावस्थश्च एकः एव अभिन्नः पुरुषः अस्ति। तथाऽपि, अर्थोष्मणा=अर्थस्य द्रव्यस्य ऊष्मणा गर्वेण, विरहितः = शून्यः सन् क्षणेन = क्षणमात्रसमयेन, अन्यः = सतेजा अपि निस्तेजा भवतीति एतत् परं विचित्रं = विस्मयकरं बोध्यम्।

भा०—धनावस्था में पुरुष की जो सतेज इन्द्रियाँ थीं, वे ही इन्द्रियाँ, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि, वही वाणी और वही पुरुष है, लेकिन धन की गरमी उतर जाने से क्षणमात्र में वह निस्तेज हो जाता है ॥ १२३ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं–'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्' ।

भा०—इस प्रकार चूडाकर्ण का सब कथन सुन कर मैंने सोचा कि इस दरिद्रावस्था में मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है ।

तथा चोक्तम्—**अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।**
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम् ॥ १२४ ॥

अ०—**दैवे अत्यन्तविमुखे, पौरुषे यत्ने च व्यर्थे, मनस्विनः दरिद्रस्य वनात् अन्यत् कुतः सुखम् ।** व्या०—**दैवे = दिष्टे** अत्यन्तविमुखे (सति) = अत्यन्तं विपरीते सति, **पौरुषे=पुरुषस्य** अयं पौरुषः तस्मिन् पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने=प्रयत्ने च, **व्यर्थे = विफले सति । मनस्विनः = अभिमानधनस्य सगर्वस्य, दरिद्रस्य = धनशून्यस्य जनस्य, वनात् अन्यत् = वनमन्तरेण, कुतः = कस्मात् स्थानात्, सुखं भवति ? कस्मादपि नेत्यर्थः ।**

भा०—भाग्य के अत्यन्त विपरीत होने पर और पुरुष-प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर धनशून्य मनस्वी पुरुष को अरण्य से अतिरिक्त स्थान में कहीं भी सुख नहीं है ॥ १२४ ॥

अन्यच्च—**मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।**
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् ॥ १२५ ॥

अ०—**मनस्वी कामं म्रियते, तु कार्पण्यं न गच्छति, अनलः निर्वाणम् अपि आयाति, शीततां न याति ।** व्या०—**मनस्वी = तेजस्वी अभिमानी जनः कामं = यथेष्टम्, म्रियते = प्राणान् विजहाति, तु = किन्तु, कार्पण्यं = दीनताम्, न गच्छति = न अङ्गीकरोति । यथा अनलः = अग्निः, (जलेन) निर्वाणं = विध्वंसम्, अपि कामम्, आयाति = प्राप्नोति, किन्तु, शीतताम् = अनुष्णतां तु, न याति = न स्वीकरोति ।**

भा०—तेजस्वी पुरुष मरण को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन दीनता की इच्छा नहीं करते हैं । क्योंकि अग्नि जल से नष्ट तक हो जाता है, किन्तु शीतता को कभी ग्रहण नहीं करता ॥ १२५ ॥

किञ्च—**कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।**
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १२६ ॥

अ०—**मनस्विनः कुसुमस्तवकस्येव द्वे तु वृत्ती, सर्वेषां मूर्ध्नि तिष्ठेत् वा, अथवा वने विशीर्येत ।** व्या०—मनस्विनः = तेजस्विनः जनस्य, कुसुमस्तवकस्य इव = कुसु-

मानां पुष्पाणां स्तबकः गुच्छः तस्य इव, द्वे तु=द्विविधे एव, वृत्ती=व्यापारौ, भवतः, तत्र एका सर्वेषां=समस्तानाम्, मूर्ध्नि=शिरःस्थाने, श्रेष्ठत्वे इत्यर्थः। तिष्ठेत्=वर्तेत वा=अथवा वने=अरण्ये, विशीर्येत=विनाशं गच्छेदिति।

भा०—पुष्पों के गुच्छ के कार्य की तरह तेजस्वी के भी दो व्यापार होते हैं। एक तो सबके शिर पर बने रहना अथवा वन में ही गिरकर विनाश को प्राप्त करना॥ १२६॥

यच्चान्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्।

भा०—दूसरे को यह धनक्षय वृत्तान्त कहना भी उचित नहीं है।

यतः—**अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।**
वञ्चनञ्चापमानञ्च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥ १२७॥

अ०—मतिमान् अर्थनाशं, मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च, वञ्चनं च, अपमानं च न प्रकाशयेत्। व्या०—मतिमान्=मतिः बुद्धिः अस्य अस्तीति मतिमान् धीमान् पुरुषः, अर्थनाशम्=अर्थस्य द्रव्यस्य नाशः क्षयः तम्, मनस्तापं=मनसः अन्तःकरणस्य तापः दुःखं तम्, गृहे=स्वगृहस्थजनानां, दुश्चरितानि च=प्रकाशनाऽनर्हाचरणानि च, वञ्चनञ्च=परकृतं स्वप्रतारणं च, अपमानञ्च=परकृतां स्वावज्ञां च इत्येतानि, न प्रकाशयेत्=अन्यस्मै न कथयेत्।

भा०—धीमान् मनुष्य को द्रव्यनाश, मनोदुःख, गृहजनों के दुश्चरित्र, परकृतवञ्चन तथा अपमान, इन पाँचों को प्रकाशित नहीं करना चाहिये॥ १२७॥

यच्चाऽत्रैव याच्ञया जीवनं तदप्यतीव गर्हितम्।

भा०—और प्रतिकूल स्थान में भिक्षा माँग के जीवन चलाना सो भी अति निन्दित है।

यतः—**वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः।**
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थ्यते जनः॥ १२८॥

अ०—विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितः अनलः वरम्, उपचारपरिभ्रष्टः कृपणः जनः न प्रार्थ्यते। व्या०—विभवहीनेन=विभवेन श्रेष्ठसम्पदा हीनः रहितः तेन पुरुषेण, प्राणैः=असुभिः, सन्तर्पितः=सम्यक्तृप्ततां नीतः, अनलः=वह्निः, स्यात्, तदपि वरं=श्रेयस्करं भवेत्। उपचारपरिभ्रष्टः=उपचारात् याचकं प्रति शिष्टाचारात् परिभ्रष्टः च्युतः, कृपणः=बद्धमुष्टिः जनः, न प्रार्थ्यते (मनस्विना) न याच्यते।

भा०—सम्पत्तिरहित मनुष्य का अग्नि में प्रवेश करना उत्तम है, किन्तु स्वधर्महीन लोभी आदमी से द्रव्य की याचना करना उचित नहीं है॥ १२८॥

अन्यच्च—**दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते**
निस्सत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १२९ ॥

अ०—यथावद्बोध्यः । व्या०—जन इति अध्याहार्यम् । दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, ह्रियमेति=लज्जाम् आप्नोतीत्यर्थः । ह्रीपरिगतः=ह्रिया परिगतः लज्जाव्याप्तः, जनः, सत्त्वात्=पराक्रमात्, परिभ्रश्यते=परिहीयते, निस्सत्त्वः पराक्रमशून्यः जनः, परिभूयते=पराभवमाप्नोति, पराभवात्=तिरस्कारात्, निर्वेदं=स्वस्य धिक्कारम्, आपद्यते=अनुभवति, निर्विण्णः=चेखिद्यमानः, शुचं=शोकम्, एति=प्राप्नोति, शोकपिहितः=शोकेन पिहितः आवृतः, बुद्ध्या परित्यज्यते=तस्य बुद्धिर्नश्यति, इत्यर्थः । निर्बुद्धिः=बुद्धिहीनः, क्षयं=नाशम्, एति, इति अहो ! आश्चर्यम् । निधनता=दरिद्रता, सर्वापदां=यावतां दुःखानाम्, आस्पदं=स्थानं कारणं भवतीत्यर्थः । (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्) ।

भा०—दरिद्रता के कारण लज्जा आती है, लज्जा के मारे पराक्रमी कार्य नहीं कर सकते, अपराक्रमी का पराभव होता है, पराभव से दुःख होता है, उसको शोक रहता है, शोक से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धिहीन का नाश होता है, अहो ! दरिद्रता सभी आपत्तियों का स्थान है ॥ १२९ ॥

किञ्च—वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राऽभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् ॥१३०॥

अ०—मौनं कार्यम् इत्यपि वरं, यत् अनृतं वचनमुक्तं न च (तत् वरं), पुंसां क्लैब्यं वरं परकलत्राऽभिगमनं च न (वरं), प्राणत्यागः वरं, पिशुनवाक्येषु अभिरुचिश्च न (वरं), भिक्षाशित्वं वरं, परधनास्वादनसुखं च न (वरम्) । व्या०—मौनं-अभाषणम्, वरं=मनाक् प्रियम्, श्रेष्ठमित्यर्थः । किन्तु-यत् अनृतम्=असत्यं वचनं=वाक्यम्, उक्तं=कथितं भवति तन्न च वरमिति । एवम् पुंसां=पुरुषाणाम्, क्लैब्यं=नपुंसकत्वम्, वरं=मनाक्प्रियम्, किन्तु-परकलत्राऽभिगमनं=कलत्रं स्त्री तदभिगमनं तत्सम्भोगः न च वरमिति । एवम्, प्राणत्यागः=प्राणानां जीवनस्य त्यागः विनाशं, वरं=मनाक्प्रियः, किन्तु=पिशुनवाक्येषु=खलोक्तिषु, अभिरुचिः=अभिलाषः, न च वरम्, एवं भिक्षाशित्वं=भिक्षाभोजित्वम्, वरम्, किन्तु परधनास्वादनसुखम्=परस्य धनं द्रव्यं तस्य आस्वादनम् उपभोगः तदात्मकं यत् सुखं तन्न वरं (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—मौन रहना उत्तम है किन्तु असत्य बोलना अच्छा नहीं, नपुंसक होना

अच्छा है किन्तु परस्त्री-गमन अच्छा नहीं, मरना अच्छा है किन्तु खलोक्ति अच्छी नहीं, भिक्षा खाना अच्छा है पर परान्न खाना अच्छा नहीं ॥ १३० ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाऽधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १३१ ॥

अ०—शून्या शाला वरम्, दुष्टः वृषभः न च वरः खलु । वेश्या पत्नी वरम्, पुनः अविनीता कुलवधूः न । अरण्ये वासः वरम्, पुनः अविवेकाऽधिपपुरे न । प्राणत्यागः वरम्, पुनः अधमानामुपगमः न वरम् । व्या०—शून्या = गवादिरहिता, शाला = गोशाला, अपि वरं = श्रेष्ठम्, दुष्टवृषभः = दुष्टश्चासौ वृषभः, वरः = श्रेष्ठः, न च खलु भवतीति । वेश्या = गणिका, पत्नीत्वेन स्वीकृता पत्नी वरम् पुनः = किन्तु, अविनीता = न विनीता अनुकूलाचारशिक्षिता इत्यविनीता पत्यनुकूलाचार-रहिता, कुलवधूः = कुलाङ्गना, न वरम् । अरण्ये = निर्जनवने, वासः = वसतिः वरम्, पुनः = किन्तु अविवेकाऽधिपपुरे = नास्ति विवेकः विज्ञानं यस्य सः अविवेकः तादृशः अधिपः राजा तस्य यत् पुरं नगरं तस्मिन् वासो न वरमिति । प्राणत्यागः = मरणम्, वरम्, पुनः = किन्तु, अधमानां = दुष्टानां खलानाम्, समागमः न वरमिति । (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—गोशाला का शून्य रहना उत्तम है, किन्तु उसमें दुष्ट बैल का रहना उत्तम नहीं । वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है, किन्तु क्रूरा कुलवधू अच्छी नहीं । अरण्यवास अच्छा है, किन्तु अविवेकी राजा के नगर में रहना उत्तम नहीं । मरना अच्छा है, किन्तु अधम जनों का समागम अच्छा नहीं ॥ १३१ ॥

अपि च—सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥ १३२ ॥

अ०—सेवा अखिलं मानम् इव, ज्योत्स्ना तम इव, जरा लावण्यम् इव, हरि-हरकथा दुरितम् इव, अर्थिता गुणशतमपि हरति । व्या०—सेवा = शुश्रूषा, अखिलं = समस्तम्, मानमिव = गौरवं यथा हरति । ज्योत्स्ना = कौमुदी, तमः इव = अन्धकारं यथा हरति । जरा = वार्धक्यम्, लावण्यमिव = सौन्दर्यादिकं यथा हरति । हरि-हरकथा = हरिः विष्णु हरः शङ्करः तयोः कथा गुणानुवादः, दुरितमिव = यथा दुरितं पातकं हरति तथा अर्थिता = याचनावृत्तिरपि, गुणशतमपि = गुणानां शतमपि हरति ।

भा०—सेवा (नौकरी) जैसे गौरव का नाश करती है, चन्द्रमा जैसे अन्धकार का

नाश करता है, वृद्धावस्था जैसे सौन्दर्य का नाश करती है, हरि हर कथा जैसे पापों का नाश करती है, वैसे ही याचनावृत्ति सैकड़ों गुणों का नाश कर देती है ॥ १३२ ॥

तत् किमहं परपिण्डेन आत्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः । तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् ।

भा०—तब फिर क्या मैं परान्न से शरीर का पोषण करूँ? वह भी बड़ा कष्ट है, क्योंकि परान्न भोजन भी एक यमालय जाने का स्वतन्त्र कारण है ।

अन्यच्च—**रोगी चिरप्रवासी परान्नभोज परावसथशायी ।**
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १३३ ॥

अ०—**यथावद्बोध्यः** । व्या०—**रोगी = दीर्घव्याधिग्रस्तः, चिरप्रवासी = चिरं प्रवसति दूरदेशे वासं करोति, अथवा चिरं प्रवसति प्रवासगमनं करोतीति । तादृशः जनः, परान्नभोजी = परस्य अन्नं भुङ्क्ते इति, परान्नादः, परावसथशायी = परस्य आवसथः निवासभवनं तस्मिन् शेते इति परगृहशयनशील इत्यर्थः । तादृशः जनः यत् किमपि जीवति, तत् जीवनं = मरणमेव मरणसमानमित्यर्थः । यच्च तस्य मरणं स च, अस्य = तादृशस्य जनस्य विश्रामः शान्तिरिति । (आर्यावृत्तम्) ।**

भा०—रोगी, बहुतकाल परदेशवासी, परान्नभोजी, परगृहनिवासी, इन चारों का जीवन मरणतुल्य है और मरण विश्राम के तुल्य है ॥ १३३ ॥

इत्यालोच्याऽपि लोभात् पुनरपि तदीयमन्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

भा०—ऐसा सोचते हुए भी लोभ से पुनः उस संन्यासी के अन्न को खाने का (ग्रह = हठ) विचार मैंने किया ।

तथा चोक्तं—**लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।**
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १३४ ॥

अ०—**लोभेन बुद्धिः चलति, लोभः तृषां जनयते, तृषार्तः मानवः परत्र इह च दुःखम् आप्नोति ।** व्या०—**लोभेन = धनलिप्सया, बुद्धिः, चलति = विचलिता भवतीति, लोभः, = धनलोभः, तृषाम् = उत्कटेच्छाम् , जनयते = उत्पादयति, तृषार्तः= तृषया ऋतः तृषार्तः धनतृष्णापीडितः, मानवः = मनोः अपत्यं पुमान् मानवः जनः, परत्र=परस्मिन् लोके, इह च=अस्मिन् लोके च, दुःखं=विविधं कष्टम् आप्नोतीति ।**

भा० —लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से धनकी उत्कटेच्छा होती है, धनेच्छावान् मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में बड़ा दुःख पाता है ॥ १३४ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाऽचिन्तयम्–'लुब्धो ह्यसन्तुष्टो नियतम् आत्मद्रोही भवति' ।

व्या०—ततः=तदनन्तरम् , तेन=वीणाकर्णेन संन्यासिना, जर्जरवंशखण्डेन=जर्जरो यः वंशस्य खण्डः तेन, ताडितः=आहतः, मन्दं मन्दं=शनैः शनैः, उपसर्पन्=गच्छन् , अहम् अचिन्तयम्=विचारं कृतवान्-लुब्धः=द्रव्यलोलुपः, असन्तुष्टः=सन्तोषशून्यश्च, जनः, नियतं=निःसंशयम् , आत्मद्रोही=आत्मने द्रुह्यतीति आत्मद्रोही स्वानिष्टकारी भवतीति ।

भा०—उसके बाद उस वीणाकर्ण नामक संन्यासी द्वारा जीर्ण वंश-दण्ड से ताडन किया हुआ मैं धीरे-धीरे चलते-चलते सोचने लगा कि—'लोभी और असन्तोषी होना निःसन्देह आत्मद्रोही बनना है'।

तथा च—धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १३५ ॥

अ०—यस्य मानसं न तुष्टम्, (तादृशो यः) धनलुब्धः, असन्तुष्टः, अनियतात्मा, अजितेन्द्रियः, तस्य सर्वा एव आपदः (भवन्ति)। व्या०—यस्य=जनस्य, मानसम्-अन्तःकरणम् , न तुष्टं=सन्तोषशून्यं भवति, तादृशो यः, धनलुब्धः=धने लुब्धः अर्थलोलुपः, असन्तुष्टः=सतृष्णः, अनियतात्मा=नास्ति नियतः संयतः आत्मा स्वभावो यस्य सः, संयमहीनः इत्यर्थः । अजितेन्द्रियः=न जितानि निगृहीतानि इन्द्रियाणि येन स, अवशेन्द्रियः, इत्येतादृशस्य तस्य=जनस्य, सर्वा एव=समस्ता एव, आपदः=विपत्तयः, समापतन्तीति ।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है ऐसा जो धनलोभी, तृष्णावाला, संयमशून्य और इन्द्रियाधीन पुरुष है उसको सभी आपत्तियाँ आती हैं॥ १३५ ॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १३६ ॥

अ०—यस्य मानसं सन्तुष्टं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः, ननु उपानद्गूढपादस्य भूः चर्मावृता इव । व्या०—यस्य=जनस्य, मानसम्=अन्तःकरणम् , सन्तुष्टं=तृष्णाशून्यं भवति, तस्य=जनस्य, सर्वाः=अशेषाः, सम्पत्तयः=सम्पदः, भवन्तीति । तत्र दृष्टान्तमाह—उपानदिति । उपानत्=चर्मपादुका तया गूढौ आवृतौ पादौ चरणौ यस्य सः तस्य जनस्य, भूः=समग्रा पृथिवी, चर्मावृता इव=चर्मणा आवृता आच्छादिता इव, भवतीति । ननु इति निश्चयार्थकमव्ययपदम् ।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट है उसीको सब प्रकार की सुख-सम्पत्ति मिलती है, जैसे पैर में जूते पहिनकर चलनेवाले मनुष्य को समग्र भूतल चर्म से ही मढ़ा हुआ प्रतीत होता है॥ १३६ ॥

अपरञ्च—सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १३७ ॥

अ०— सन्तोषामृततृप्तानां शान्तचेतसां यत् सुखं तद् धनलुब्धानाम् इतश्च इतश्च धावतां कुतः? व्या०— सन्तोषामृततृप्तानां = सन्तोषः तृष्णाऽऽभावः स एव अमृतं तेन तृप्तानां तृप्तिमताम्, शान्तचेतसाम्=शान्तं क्षोभरहितं चेतः मनो येषान्ते तेषां स्थिरान्तःकरणानां जनानां, यत् = यादृशं सुखं भवति। तत् = तादृशं सुखम्, धनलुब्धानाम् = धने द्रव्ये लुब्धाः लोलुपाः तेषाम्, इतश्च इतश्च धावतां= समन्तात् प्रदेशान्तरे परिभ्रमतां जनानाम्, कुतः = कस्माद्धेतोः स्यादिति।

भा०—सन्तोषरूप अमृत से तृप्त शान्तचित्तवाले जनों को जो सुख मिलता है, वह सुख धन के लोभी इधर-उधर दौड़नेवाले को कहाँ से मिले ॥ १३७ ॥

किञ्च—तेनाऽधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाऽऽशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १३८ ॥

अ०—येन आशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यम् अवलम्बितम्, तेन सर्वम् अधीतम्, तेन सर्वं श्रुतम्, तेन सर्वम् अनुष्ठितम्। व्या०— येन = पुरुषेण, आशाः = विविधास्तृष्णाः, पृष्ठतः = पश्चात्, कृत्वा विहायेत्यर्थः। नैराश्यम् = आशाशून्यत्वम्, अवलम्बितम् = आश्रितम्, तेन = पुरुषेण, सर्वम् अधीतम्=सर्ववेदादिकं पठितम्, तेन सर्वं श्रुतं= नीतिशास्त्रादिकमाकर्णितम्। तेन च सर्वम् अनुष्ठितं = तपश्चरणादिकमाचरितमिति।

भा०—जिसने आशाओं को पीछे रखकर निराशा का अवलम्बन किया है उसने सब पढ़ लिया, सब श्रवण कर लिया तथा सब अनुष्ठान भी कर लिया ॥ १३८ ॥

अपि च—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम्।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १३९ ॥

अ०—असेवितेश्वरद्वारम् अदृष्टविरहव्यथम् अनुक्तक्लीबवचनं कस्यापि जीवनं धन्यम्। व्या०—असेवितेश्वरद्वारम्=न सेवितम् अनाश्रितम् ईश्वरस्य धनवज्जनस्य द्वारं गृहाऽङ्गणं यस्मिन् तत्, धनिकाऽधीनतानपेक्षमित्यर्थः। अदृष्टविरहव्यथम् = न दृष्टा विरहस्य इष्टजनवियोगस्य व्यथा कष्टं यस्मिन् तत्, इष्टवियोगजदुःखानुभवरहितमित्यर्थः। अनुक्तक्लीबवचनम्—न उक्तं क्लीबस्य दीनतायाः वचनं यस्मिन् तत् 'मां रक्ष' इति वचनाऽवसराऽप्राप्तमित्यर्थः। एतादृशं जीवनं तु कस्यापि जनस्य धन्यमिति प्रशस्यतरं भवतीति।

भा०—जिसको अपने जीवन में धनी के घर नहीं जाना पड़ा है और न तो स्वजनों के विरह का दुःख देखना पड़ा है तथा 'मैं असहाय हूँ, मेरा रक्षण करो' ऐसा दीन वचन नहीं बोलना पड़ा है ऐसे पुरुष का जीवन धन्य है ॥ १३९ ॥

यतः—न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १४० ॥

अ०—तृष्णया वाह्यमानस्य योजनशतं दूरं न, सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽपि अर्थे आदरः न भवति। व्या०—तृष्णया = धनगर्धया, वाह्यमानस्य = आकृष्यमाणस्य जनस्य योजनशतमपि = योजनानां शतमपि, शतयोजनदूरप्रदेशोऽपीत्यर्थः। न दूरं = विप्रकृष्टो न भातीति। 'अथ च सन्तुष्टस्य = अतृष्णस्य जनस्य तु, करप्राप्तेऽपि = करौ प्राप्तः तस्मिन्, हस्ततलयोर्मध्ये आपतितेऽपीत्यर्थः। अर्थे = द्रव्याद्यात्मके पदार्थे, आदरः = आस्था न भवति।

भा०—तृष्णा से आर्त मनुष्य सौ योजन को भी दूर नहीं मानते हैं और सन्तोषी मनुष्य को हाथ में प्राप्त हुये भी पदार्थ में आदर नहीं होता ॥ १४० ॥

तदत्र अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान्।

भा०—इसलिये अब अपनी स्थिति के अनुकूल कार्य करने का निर्णय करना ही उचित है।

को धर्मो ? भूतदया, किं सौख्यं ? नित्यमरोगिता जगति।
कः स्नेहः ? सद्भावः, किं पाण्डित्यं ? परिच्छेदः ॥ १४१ ॥

अ०—जगति कः धर्मः भूतदया, किं सौख्यं, नित्यमरोगिता, कः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं, परिच्छेदः। व्या०—जगति = संसारे, कः धर्मः = धर्मस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) (उत्तरम्)—भूतदयेति। भूतदया = भूतानां प्राणिनाम् उपरि दया करुणा स धर्मः भवतीति। किं सौख्यं = सुखस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) नित्यं = सर्वदा, अरोगिता = नीरोगिता सुखम्, (इत्युत्तरम्)। कः स्नेहः = स्नेहः किं स्वरूपः? (इति प्रश्नः) सद्भावः = संश्रासौ भावः, सर्वभूतेषु सुखदुःखसमभाव एव स्नेहः (इत्युत्तरम्)। किं पाण्डित्यं = पाण्डित्यस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) परिच्छेदः = कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमित्युत्तरम्। (आर्यावृत्तम्)

भा०—संसार में धर्म क्या वस्तु है ? प्राणि-मात्र पर दया करना धर्म है। सुख का क्या स्वरूप है ? सदा नीरोगी रहना ही सुख है। स्नेह का क्या स्वरूप है ? सद्भावना ही स्नेह है। पाण्डित्य किसको कहते हैं ? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना ही पाण्डित्य है ॥ १४१ ॥

तथा च—**परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।**
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे ॥ १४२ ॥

अ०—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं (भवति) विपत्तयः यदापन्ना अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः पदे पदे स्युः व्या०—परिच्छेद हि = कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमिति भवति, यतः विपत्तयः = विपदोऽपि, यदापन्नाः = यस्मात् पाण्डित्यात् आपन्नाः, आपत्प्राप्ताः, विनष्टा इत्यर्थः। भवन्तीति शेषः। अपरिच्छेदकर्तॄणाम् = परिच्छेदस्य निर्णयस्य कर्तारः परिच्छेदकर्तारः ते न भवन्तीति अपरिच्छेदकर्तारस्तेषाम् अपरि-

च्छेदकर्तृणाम्, निश्चयरहितानामित्यर्थः। विपदः=आपत्तयः, पदे पदे=कार्ये कार्ये भवन्तीति।

भा०—पाण्डित्य को ही परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि विपत्तियों का अन्त पाण्डित्य से होता है। परिच्छेद (कर्तव्याकर्तव्यविचार) नहीं करने वाले को आपत्तियाँ क्षण-क्षण में आती रहती हैं॥ १४२॥

तथा हि—**त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।**
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ १४३॥

अ०—कुलस्यार्थे एकं त्यजेत्, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, जनपदस्यार्थे ग्रामं (त्यजेत्) आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। व्या०—कुलस्यार्थे=कुलस्य अर्थे कुलमर्यादायाः रक्षणार्थम्, एकं=कमपि आत्मीयं पुत्रदारादिकम्, त्यजेत्=परिहरेत्। ग्रामस्यार्थे=ग्रामस्य अर्थे स्वग्रामजनानाम् उपकाररक्षणाद्यर्थे तु, कुलं=कुटुम्बादिकम् त्यजेत्=परिहरेत्, जनपदस्यार्थे=जनपदस्य देशस्य अर्थे उपकाररक्षणाद्यर्थं च ग्रामं स्वजन्मभूमिम् त्यजेत्=परिहरेत्, आत्मार्थे=निजहिताद्यर्थं तु, प्रतिकूलां पृथिवीमपि=जनपदात्मिकां भूमिमपि, त्यजेदिति।

भा०—कुल की मर्यादा के रक्षण के लिये घर के एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये और ग्राम की रक्षा के लिये कुलत्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये। देश की रक्षा के लिये ग्रामत्याग करना पड़े तो वह भी करना और देश का भी त्याग करने से आत्मरक्षा होती हो तो देश भी त्याग देना चाहिये॥ १४३॥

अपरं च—**पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्।**
विचार्य्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः॥१४४॥

अ०—निरायासं पानीयं वा, भयोत्तरं स्वादु अन्नं वा, विचार्य्य, खलु, यत्र निर्वृतिः तत् सुखम् इति पश्यामि। व्या०—निरायासम्=निः नास्ति आयासः प्रयासः यस्मिन् तत् पानीयं=जलं वा, भयोत्तरं=भयं भीतिः उत्तरमुत्तरकाले यस्य तत्, भीतिसङ्कुलमित्यर्थः। स्वादु=सुमिष्टम्, अन्नं भोजनं वा, एतयोर्मध्ये विचार्य=सुचिन्त्य, खलु यत्र निर्वृतिः=यत्रानन्दः निश्चयेन भवति, तत्सुखं=सुखकरमिति, पश्यामि=निर्धारयामीति।

भा०—बिना प्रयास से मिला हुआ जल, और पीछे से विकार-प्रयुक्त दुःख का भय कराने वाला मिष्टान्न भोजन, इन दोनों में विचार करके जिससे शान्ति होती है वही सुखकर है—ऐसा निर्धारण करता हूँ॥ १४४॥

इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः।

ऐसा विचारकर मैं निर्जन वन में आया हूँ।

यतः—वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणम्।
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥

अ०—(यत्र) द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणं तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं (तादृशं) व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं वनं वरम् , तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनं न (वरम्)।

व्या०—(तत्र वने) द्रुमालयः=द्रुमः वृक्ष एव आलयः गृहरूपो भवति। पत्रफलाम्बुभक्षणम्=पत्राणि हरितपर्णानि फलानि अकृत्रिमसस्यादीनि अम्बूनि जलानि च तेषां भक्षणं भोजनं पानं च, भवति। तृणानि शय्या=शयनास्तरणं भवति। वसनं च=वस्त्रन्तु, वल्कलं=वृक्षत्वग् भवति। तादृशं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं=व्याघ्राश्च गजेन्द्राश्च तैः सेवितं सङ्कुलं यद्वनम् अरण्यं तदेव वरम्=श्रेयस्करमिति मन्ये। किन्तु, बन्धुमध्ये=बन्धूनां सम्बन्धिजनानां मध्ये, धनहीनजीवनं=धनेन द्रव्येण हीनं शून्यं यत् जीवनं तन्न वरं भवतीति मन्ये। (वंशस्थविलं वृत्तम्)।

भा०—जिस वन में वृक्ष ही घर हैं, पत्र फल का भोजन तथा नदी का जल पीना है, घास की शय्या है, वल्कल के वस्त्र हैं, ऐसे व्याघ्र-गजों से सेवित वन में रहना अच्छा है, किन्तु कुटुम्ब के बीच में धनहीन जीवन अच्छा नहीं है ॥ १४५ ॥

ततः अस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

व्या०—ततः=वनागमनाऽनन्तरम् , अस्मत्पुण्योदयात्=अस्माकं पुण्यस्य पूर्वसञ्चितसुकृतस्य उदयः परिपाकः तस्मात् , अनेन=पार्श्वस्थेन, मित्रेण=लघुपतनकनाम्ना काकेन सुहृदा, स्नेहानुवृत्त्या=स्नेहस्य अनुवृत्तिः तया उत्तरोत्तरं प्रीत्यतिशयेनेत्यर्थः। अनुगृहीतः=अहं कृतार्थः कृतः। अधुना च=इदानीं च, पुण्यपरम्परया=पुण्यस्य सुकृतस्य परम्परा पङ्क्तिस्तया, पुण्योदयेनेत्यर्थः। भवदाश्रयः=भवतः कूर्मस्य आश्रयः आवासालयः स्वर्ग एव=स्वर्गतुल्यः, मया प्राप्तः=लब्ध इति।

भा०—वन में आने के बाद हमारे पुण्योदय से इस मित्र काक ने स्नेहातिशय से मुझको अनुगृहीत किया। और अब भी पुण्यप्रताप से आप (कूर्म) का आवासस्थान स्वर्ग ही मैंने पाया।

अतः—संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनैः सह ॥ १४६ ॥

अ०—संसारविषवृक्षस्य काव्यामृतरसास्वादः, सज्जनैः सह सङ्गम (इति) द्वे एव रसवत्फले। व्या०—संसारविषवृक्षस्य विषस्य वृक्षः विषवृक्षः, संसार एव विषवृक्षः तस्य, काव्यामृतरसास्वादः=काव्यम् अमृतमिव इति काव्यामृतम् तस्य शृङ्गारादिः तस्य आस्वादः अनुभवः, सज्जनैः=सन्तश्च ते जनाश्च तैः, सह सङ्गमः

सदा समागम इत्यर्थः । इत्येव द्वे एव, रसवत्फले—रसाः सन्ति अनयोः इति रसवती, रसवती च ते फले च भवत इति ।

भा०—संसार रूप विषवृक्ष के काव्यरूप अमृत का रसास्वादन और सत्पुरुष का समागम ये दो ही मधुर रसवाले फल हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् ।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत् ॥ १४७ ॥

अ०—असारे खलु संसारे सत्सङ्गः, केशवे भक्तिः, गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् इति त्रीणि साराणि भावयेत् । व्या०—असारे = सारशून्ये तुच्छे, संसारे = जगच्चक्रे, सत्सङ्गः = सतां साधुजनानां सङ्गः समागमः, केशवे=परमेश्वरे, भक्तिः=प्रेमातिशयः, गङ्गाऽम्भसि = गङ्गाया अम्भः जलं तस्मिन् , निमज्जनं = स्नानम् , इत्येतानि त्रीणि साराणि = स्थिरफलानि सन्तीति, भावयेत् = चिन्तयेत् ।

भा०—असार संसार में सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति, गङ्गास्नान, ये तीन ही सार हैं, उनका सेवन करना चाहिये ॥ १४७ ॥

मन्थर उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम् ।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १४८ ॥

अ०—(जगति) अर्थाः पादरजोपमाः, यौवनं गिरिनदीवेगोपमम् , आयुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं, जीवनं फेनोपमं यः निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं धर्मं न करोति, सः जरापरिणतः पश्चात्तापहतः शोकाग्निना दह्यते । व्या०—(जगति) अर्थाः = द्रव्याणि पादरजोपमाः=पादस्य चरणतलस्य रजः धूलिः उपमा क्षणवियोगित्वेन उपमानं येषान्ते तादृशाः भवन्ति । यौवनं = तारुण्यम्, गिरिनदीवेगोपमं= गिरेः शिखरिणः या नदी निर्झरिणी तस्याः वेगः उपमा क्षणस्थायित्वेन उपमानं यस्य तत् तादृशं भवतीति । आयुष्यं = मनुष्यशरीरमपि जलबिन्दुलोलचपलं= जलस्य बिन्दवः कणाः त इव लोलं च तत् चपलं चेति भवति, क्षणभङ्गुरं भवतीत्यर्थः । जीवनम् = आयुः, फेनोपमं = फेनस्य उपमा अकस्मान्नष्टस्वभावत्वेन सादृश्यं यस्य तत् तादृशं भवतीति । (एतावताऽपि) यः निश्चलमतिः = निश्चला स्थिरा मतिर्यस्य, दीर्घदर्शीत्यर्थः । स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं=स्वर्गस्य यः अर्गलः प्रतिबन्धः तस्य उद्घाटनं विनाशक इत्यर्थः । तादृशं धर्मं = सुकृतं न करोति = नार्जयति । सः जरा-

परिणतः=जरया पक्वः शिथिलगात्रः, अथ च पश्चात्तापहतः=पश्चात् मरण-समये तापः वेदना तेन हतः व्याहतः सन्, शोकाग्निना=शोकः एव अग्निः तेन दह्यते=अन्तर्भस्मीभवतीति ।

भा०—मन्थर ने कहा—संसार में धन चरणतल की धूलि के समान नाशशील हैं, यौवन पर्वत की नदी के वेग के समान अस्थिर है, मनुष्य की आयु जलबिन्दु के समान क्षन में शुष्कशील है, जीवन गाज के समान नाशशील है, तो भी जो बुद्धिमान जन स्वर्ग के दरवाजे खोलनेवाले धर्म को नहीं कर सकता है, वह जरा से पीड़ित होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोकाग्नि से जलता रहता है ॥ १४८ ॥

युष्माभिः अतिसञ्चयः कृतः, तस्यायं दोषः ।

भा०—आपने भी खूब द्रव्य सञ्चय किया, उसका यह फल है ।

शृणु—**उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।**

तडागोदरसंस्थानाम् परीवाह इवाऽम्भसाम् ॥ १४९ ॥

अ०—तडागोदरसंस्थानाम् अम्भसां परीवाह इव उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् । व्या०—तडागोदरसंस्थानाम्=तडागस्य जलाशयस्य उदरं गर्भः तस्मिन् संस्था स्थितिर्येषान्तानि तेषाम्, अम्भसां=जलानाम्, परिवाहः=परिस्रवः वहिर्गतिः स इव यथा रक्षणरूपो भवति तथा उपार्जितानां=चिरसञ्चिता-नाम्, वित्तानां=द्रव्याणाम्, त्यागः=पात्रे वितरणमेव, हि रक्षणं=पोषणरूपः सञ्चयो भवतीति ।

भा०—जैसे तालाब के नाप से अधिक जलों का बाहर निकालना ही स्थायी जल का रक्षणरूप है । वैसे ही जीविका-साधन से ज्यादा कमाया हुआ द्रव्य का दान देना ही रक्षण है ॥ १४९ ॥

अन्यच्च—**यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः ।**

तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५० ॥

अ०—मितम्पचः क्षितौ अधोऽधः वित्तं यत् निचखान, तत् अग्रतः अधोनिलयं गन्तुं पन्थानः चक्रे । व्या०—मितम्पचः=मितम् अल्पं स्वोदरमात्रपूरणार्थं पचतीति मितम्पचः कृपणः, क्षितौ=पृथ्वीतले गर्ते, अधोऽधः=गर्भभागेऽधस्तात्, वित्तं=धनम्, यत् निचखान=खातितवान् । तत्=खननम्, अग्रतः=प्रथमत एव मरणपूर्वमेव, अधोनिलयं गन्तुं=खनकस्य अधोगतिं कर्तुम्, अधोगमनमार्गमिति यावत् । चक्रे=करोतीति ।

भा०—धनवान् होने पर भी जो कृपण पृथ्वी में जो धन गाड़ता है, वह (पृथ्वी खोदना) प्रथम से ही उस कृपण को नरकरूप अधोगति में जाने का मार्ग बनाता है ॥ १५० ॥

यतः—निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।

परार्थभारवाहीव स क्लेशस्यैव भाजनम् ॥ १५१ ॥

अ०—यः निजसौख्यं निरुन्धानः धनार्जनम् इच्छति, सः परार्थभारवाही इव क्लेशस्यैव भाजनम् । व्या०—यः=जनः, निजसौख्यं=निजस्य स्वस्यात्मनः सौख्यं तृप्तिं शान्तिमयजीवनम् , निरुन्धानः=निरुन्धन् सन् आत्मानं क्लेशयित्वेत्यर्थः । धनार्जनं=धनस्य द्रव्यस्य अर्जनम् संकलनम् इच्छति=अभिलषति । सः=जनः, परार्थभारवाही इव=परार्थं परनिमित्तं भारस्य काष्ठपाषाणादेः गुरुपदार्थस्य वाही वहनकर्ता रासभ इव यथा क्लेशभाजनं भवति तथा क्लेशस्य द्रव्योपार्जन-प्रयासस्य भाजनं भवति, न तु तत्फलं भुङ्क्ते ।

भा०—जो मनुष्य अपने को आराम न देकर केवल द्रव्योपार्जन ही करता है, वह मनुष्य दूसरे के लिये भार ढोने वाले गदहे की तरह केवल क्लेश का ही पात्र बनता है ॥

तथा चोक्तं—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।

भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५२ ॥

अ०—यदि दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनः (भवन्ति) तदा तेनैव धनेन वयं किं धनिनो न भवामः ? । व्या०—यदि पक्षे दानोपभोगहीनेन=दानं च उपभोगश्च ताभ्यां हीनेन उपभोगेन च शून्येन, धनेन=विपुलेनाऽपि द्रव्येण जनाः धनिनो धनवन्तो भवन्ति । तदा=तस्मिन् पक्षे तेनैव धनेन=तस्य धनिनः द्रव्येणैव, वय-मपि=द्रव्यशून्याः वयमपि किं=कथम्, धनिनो न भवामः ? तस्मिन् द्रव्ये दानो-पभोगशून्यतायाः द्वयोः समानत्वादिति भावः ।

भा०—अगर दान तथा उपभोग से शून्य जो द्रव्य है उससे यदि लोग धनी कहाते हैं तो हम भी उस (दूसरों के) धन से धनी क्यों न कहावें ? ॥ १५२ ॥

यतः—धनेन किं ? यो न ददाति नाऽश्नुते

बलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।

श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत्

किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥

अ०—यः न ददाति न अश्नुते (तस्य) धनेन किम् ? । यश्च रिपून् न बाधते (तस्य) बलेन किम् ? यश्च धर्मं न आचरेत् (तस्य) श्रुतेन किम् ? । यः जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् ? । व्या०—यः=धनाढ्यो जनः, न ददाति=सत्पात्रे दानं न करोति, न च अश्नुते=न स्वयं भुङ्क्ते, तस्य=धनाढ्यस्य, धनेन, किं ?=किं साधितं ? किं च फलं ?, न किमपीत्यर्थः । यश्च=बली जनः, रिपून्=शत्रून् , न बाधते=न पीडयति, तस्य बलवतः बलेनापि किम् ? बलस्य=

किं फलम्? न किञ्चिदपीत्यर्थः। यश्च=शास्त्राध्ययनशीलो जनः, धर्मः=सदाचारादिकं, न आचरेद्=न पालयेत्, तस्य अधीतशास्त्रस्य जनस्य, श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेनापि, किम्=शास्त्रज्ञानस्य किं फलं, न किञ्चिदित्यर्थः। यश्च = जनः जितेन्द्रियः= जितानि संयमितानि इन्द्रियाणि येन सः तादृशो न भवेत्, तस्य=मनुष्यजन्मनोऽपि किम्? मोक्षसाधनसमर्थस्य मनुष्यजन्मनः अपि किं फलं न किञ्चिदित्यर्थः।

भा०—जो धनी न दान देता है न खाता है उसके धन का कोई फल नहीं है, जो बली अनुरूप शत्रु को कष्ट नहीं देता है उसका बल निष्फल है, जो पण्डितजन धर्म नहीं पालते हैं उनका पाण्डित्य निष्फल है, वैसे ही जो जितेन्द्रिय नहीं है उसका जीवन ही निष्फल है॥ १५३॥

अन्यच्च—**असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।**
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते॥ १२४॥

अ०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन परैः सामान्यम्, हानौ—'दुःखेन अस्य इदम्' इति सम्बन्धो गम्यते। व्या०—कृपणस्य=व्ययकातरस्य, धनं=द्रव्यम्, असम्भोगेन= उपभोगराहित्येन, अनुपभुक्तत्वादित्यर्थः। परैः—धनरहितैः जनैः, सामान्यं=समानम्, तुल्यमित्यर्थः। परन्तु हानौ = चौरादिना धननाशे सति, दुःखेन = तन्नाशजन्यपरमदुःखेन, 'अस्य दुःखितस्य कृपणस्य इदं द्रव्यम्' इति, सम्बन्धः = स्वस्वामित्वरूपः, गम्यते = ज्ञायते, नान्यथेति।

भा०—कृपण पुरुष का धन—भोगरहित होने से धन स्वामी के प्रति तथा अस्वामी के प्रति समान है, केवल द्रव्य का अकस्मात् नाश होने से जिसको दुःख होता है उससे ही उसका मालिकपन मालूम हो जाता है॥ १५४॥

अपि च—**न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने।**
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः॥ १५५॥

अ०—कृपणस्य, धनं देवाय न, विप्राय न, बन्धुभ्यो न, आत्मने च न याति, (अपि तु) वह्नितस्करपार्थिवैः ह्रियते। व्या०—कृपणस्य=व्ययकुण्ठस्य जनस्य, धनं= द्रव्यम्, देवाय न=देवसेवार्थं न याति, विप्राय न=विप्रसेवार्थं न याति, बन्धुभ्यो न=बन्धूनाम् उपयोगाय च न याति, किन्तु—वह्नितस्करपार्थिवैः=वह्निः अग्निः तस्कराः चौराः पार्थिवाः राजानः तैः ह्रियते=बलात् नीयत इत्यर्थः।

भा०—कृपण पुरुष का द्रव्य देवता के लिये, ब्राह्मण के लिये, बन्धुजनों के लिये और अपने कार्य के लिये उपयोग में नहीं आता है, किन्तु अग्नि, चोर या राजा इनसे लूटा जाता है॥ १५५॥

तथा चोक्तं—**दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वितं शौर्यम्।**
त्यागसहितञ्च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्॥ १५६॥

अ०—प्रियवाक्सहितं दानम्, अगर्वं ज्ञानम् , क्षमाऽन्वितं शौर्यम् , त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम् । व्या०—प्रियवाक्सहितं=प्रिया मधुरा या वाग् वाणी तया सहितं दानं सत्पात्रे वितरणम्, अगर्वं=नास्ति गर्वो यस्य तत् अगर्वम् अभिमानरहितं ज्ञानं=शास्त्रजन्यदिव्यविद्या, क्षमाऽन्वितं=क्षमया तितिक्षया अन्वितं युक्तम्, शौर्यं= शूरत्वम् , त्यागसहितञ्च =त्यागः दानं तेन सहितञ्च वित्तं द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्रं=चतुर्णां भद्राणां समाहारः चतुर्भद्रं कल्याणचतुष्टयम् , दुर्लभं= दुष्प्रापम् भवतीति ।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, क्षमायुक्त शूरता दानयुक्त द्रव्य, ये चारों श्रेयःपदार्थ दुर्लभ हैं ॥ १५६ ॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १५७ ॥

अ०—नित्यं सञ्चयः कर्तव्यः, अतिसञ्चयः न कर्त्तव्यः, सञ्चयशीलः असौ जम्बुकः धनुषा हतः पश्य । व्या०—नित्यं सर्वदा, सञ्चयः=द्रव्यसंकलनम् , कर्तव्यः =विधेयः, अतिसञ्चयः=अत्यन्तं निरवधिः सञ्चयस्तु न कर्तव्यः, सञ्चयशीलः= कार्मुकेण, हतः=नाशित इति ।

भा०—सदा सञ्चय करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चय नहीं करना चाहिये । क्योंकि अतिसञ्चय करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया ॥ १५७ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत ? मन्थरः कथयति—

भा०—मूषिक तथा काक दोनों बोले-'यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है ?' तब मन्थर कहने लगा—

कथा ९

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमध्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेण हतः । शूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हतः छिन्नद्रुम इव पपात ।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्यः वासकारी भैरवो नाम व्याधः=मृगयुः, आसीत् । स च व्याधः, एकदा=एकस्मिन् समये, मांसलुब्धः=मांसे लुब्धः सतृष्णः सन् , धनुः=कार्मुकम्, आदाय=गृहीत्वा, मृगं=

हरिणम्, अन्विष्यन्=मार्गयन्, सन् विन्ध्याटवीमध्यं विन्ध्यस्य विन्ध्याचलपर्वतस्य अटव्याः अरण्यस्य मध्यं गतः, तत्र=अटव्याम्, तेन=व्याधेन, एकः मृगः=हरिणः, व्यापादितः=मारितः, ततः तदनन्तरम्, मृगमादाय हरिणं गृहीत्वा, गच्छता तेन= व्याधेन, घोरा महती भयङ्करा आकृतिः स्वरूपं यस्य स तादृशः पुष्टः, शूकरः= वराहः, दृष्टः। ततः=तदनन्तरम्, तेन=व्याधेन, मृगं=हरिणम्, भूमौ=भुवस्तले, निधाय=संस्थाप्य, शरेण=बाणेन, शूकरः=स वराहः, हतः=ताडितः, शूकरेणापि बाणाघातक्रोधव्याप्तेन शूकरेणापि आगत्य=व्याधसन्निधौ समुत्पत्य, प्रलयघन-घोरगर्जनं=प्रलयस्य प्रलयकालस्य यः घनः मेघः तस्य गर्जनमिव घोरं भयङ्करं गर्जनम् आक्रन्दनं कुर्वाणेन सता मुष्कदेशे=गुह्याङ्गे, हतः=ताडितः, स व्याधः छिन्नद्रुम इव=छिन्नः भग्नः द्रुमः तरुवर इव पपात=भूमौ पतितः।

भा०—'कल्याणकटक' नामक देश में भैरव नाम का व्याध रहता था, वह एक बार मांस में तृष्णायुक्त होकर धनुष लेकर मृग को खोजता हुआ विन्ध्याचल पर्वत पर गया। वहाँ उसने एक मृग को मारा, मृग लेकर चलते हुये उस व्याधने एक पुष्ट शूकर को देखा, तब मृग को जमीन पर रख कर शूकर को बाण से मारा। बाण लगते ही गुस्से से भरे हुये उस शूकर ने चिल्लाकर व्याध के गुप्ताङ्ग में प्रहार किया जिससे व्याध कटे हुये वृक्ष की तरह गिर पड़ा।

तथा चोक्तम्—**जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः पतनं गिरेः।**
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते॥ १५८॥

अ०—जलम् अग्निः विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः गिरेः पतनं किञ्चिन्निमित्तम् आसाद्य देही प्राणैः विमुच्यते। व्या०—जलं=सलिलम्, अग्निः=वह्निः, विषं=गरलम्, शस्त्रं =खड्गादिकम्, क्षुद्=अन्नाभावे प्राणशोषणम्, व्याधिः=ज्वरादिकम्, गिरेः पतनं= पर्वताद्युच्चस्थानात्पतनमित्यर्थः, इत्येवंरूपं किञ्चिन्निमित्तमासाद्य=प्राप्य, देही= शरीरी, प्राणैः=असुभिः, विमुच्यते=म्रियते।

भा०—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, व्याधि, पहाड़ से पतन, इत्यादि किसी भी निमित्त से जीवधारी प्राणों से अलग हो जाता है॥ १५८॥

अथ तयोः पादास्फालनेन एकः सर्पोऽपि मृतः। अत्रान्तरे 'दीर्घ-रावो' नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान् मृतान् मृगव्याधसर्पशूक-रानपश्यत्। आलोक्याचिन्तयच्च—'अहो! भाग्यम्! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्'।

व्या०—अथ तयोः=व्याधशूकरयोः, पादास्फालनेन पादानामास्फालनं ताडनं तेन, एकः=कश्चित्, सर्पः अपि मृतः=मरणं गतः। अत्रान्तरे=तस्मिन्नेव समये आहारार्थी=आहारम् अर्थयते इति आहारार्थी, दीर्घरावो नाम=दीर्घः महान् आरावः

शब्दो यस्य सः तादृशनाम्ना ख्यात इति, जम्बुकः=शृगालः, परिभ्रमन्=परिभ्रमतीति पर्यटति इति परिभ्रमन् पर्यटन् सन् । तान् मृतान् मृगश्च व्याधश्च सर्पश्च शूकरश्चेति तान्, अपश्यत् । आलोक्य=दृष्ट्वा च, अचिन्तयत्=विचारं कृतवान्—अहो इति हर्षे, भाग्यं=दैवम्, अद्य=अस्मिन्दिने, मे=मम, महद्भाग्यं समुपस्थितं=फलितम् ।

भा०—और उस व्याध तथा शूकर के तड़फड़ाने से उसके पैरों से एक साँप मर गया । उस समय आहार के लिये घूमते हुए दीर्घराव नामक जम्बुक ने मरे हुये मृग, व्याध, सर्प, शूकर इन चारों को देखा । देख कर सोचा भी—ओह ! भाग्य है, आज मुझे बड़ा भोजन मिल गया है ।

अथवा—अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १५९ ॥

अ०—यथैव देहिनाम् अचिन्तितानि दुःखानि आयान्ति, तथा सुखान्यपि (आयान्ति) इति मन्ये । अत्र दैवम् अतिरिच्यते । व्या०—यथैव=यद्वत्, देहिनां=शरीरिणाम्, अचिन्तितानि=न चिन्तितानि आकस्मिकानि, दुःखानि=आपत्तयः, आयान्ति, तथा सुखानि अपि आकस्मिकानि, आयान्ति । इति=अहं मन्ये, अत्र=अस्मिन् सुखदुःखागमने, दैवं=भाग्यमेव, अतिरिच्यते=सर्वमूर्धन्यतया तिष्ठति ।

भा०—जिस प्रकार शरीरधारियों को आकस्मिक दुःख आते हैं वैसे ही आकस्मिक सुख भी आते हैं, इनमें दैव ही प्रधान है ॥ १५९ ॥

भवतु, एषां मांसैः मासत्रयं समधिकं भोजनं मे भविष्यति ।

भा०—अच्छा हुआ, इन सबके मांस से तीन महीने तक मेरा भोजन खूब चलता रहेगा ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १६० ॥

अ०—नरः एकं मासं याति, मृगशूकरौ द्वौ मासौ, (यातः) अहिः एकं दिनं याति, अद्य धनुर्गुणः भक्ष्यः । व्या०—नरः=व्याधशरीरमांसम्, एकं मासम्=एकमासं व्याप्य, याति=भक्ष्यतां गच्छति, मृगश्च शूकरश्च तौ, मृगस्य मांसं शूकरस्य च मांसम्, द्वौ मासौ=मासद्वयं व्याप्य, याति इति । अहिः=सर्पमांसम्, एकं दिनं व्याप्य, याति=भक्ष्यत्वं गच्छति, अद्य=अस्मिन्दिने तु धनुर्गुणः=धनुषः कार्मुकस्य गुणः मौर्वी चर्ममौर्वीत्यर्थः, भक्ष्यः=भक्षणीय इति ।

भा०—मनुष्य मांस एक मास चलेगा, दो मास तक मृग तथा शूकर का मांस चलेगा, एक दिन साँप के मांस से गुजरेगा । आज तो यह धनुष की सूखी स्नायुमय रस्सी ही खा लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि, इत्युक्त्वा तथाऽकरोत् । ततश्छिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतम् उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि 'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' (१५७) इत्यादि ।

व्या०—ततः = तस्मात् , अग्रे श्रेष्ठं भोजनन्त्वस्त्येवेति हेतुनेत्यर्थः । प्रथमबुभुक्षायां = प्रथमा चासौ बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा तस्यां सत्याम्, इदं = पुरःस्थितम् , निःस्वादु = निःस्वादम्, कोदण्डलग्नं = कोदण्डे कार्मुके लग्नं बद्धम्, स्नायुबन्धनं= स्नायुः आन्त्रनाडी तस्या बन्धनं बन्धनभूतम् , आन्त्रमित्यर्थः । खादामि=अद्मि। इत्युक्त्वा. तथा = अन्त्रभोजनार्थप्रवृत्तिम् , अकरोत् । ततः खादने सति, स्नायुबन्धने=आन्त्रस्य बन्धने, छिन्ने=त्रुटिते सति, द्रुतम् उत्पतितेन = आकर्षणवशात् सवेगम् उत्सर्पता, धनुषा = कार्मुकदण्डेन, हृदि = हृदयप्रदेशे, निर्भिन्नः = आहतः, सः = दीर्घरावनामा शृगालः, पञ्चत्वं = मरणं गतः । अतः = अस्माद्धेतोः, ब्रवीमि = कथयामि 'कर्तव्यः' इत्यादि ।

भा०—इस हेतु से प्रथम क्षुधा मे यह स्वादशून्य धनुष में बँधी हुई स्नायु की रस्सी खा लूँ, ऐसा कहकर खाने लगा, तब तानकर बँधे हुये उस स्नायु के टूटने पर वेग से उड़ा हुआ धनुष शृगाल के हृदय में लगा और शृगाल मर गया, इसलिये मैं कहता हूँ कि—'कर्तव्यः'—इत्यादि ।

तथा च—यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् ।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १६१ ॥

अ०—यद् धनं ददाति यद् अश्नाति, धनिनः तदेव धनम्, अन्ये मृतस्य दारैरपि धनैरपि क्रीडन्ति । व्या०— यद् धनं ददाति = सत्पात्रे वितरणं करोति, यत् च धनम् अश्नाति = स्वयं भुङ्क्ते, धनिनः = धनिपुरुषस्य, तदेव धनम् इति सार्थकं भवति ; अथ अन्ये जनाः, मृतस्य = धनिनः, दारैः = कलत्रैस्सह अपि धनैः अपि च क्रीडन्ति = आनन्दमनुभवन्तीति ।

भा०—जो धन दान में दिया जाता है और अपने उपभोग में भी आता है वही धनवानों का धन कहलाता है, दूसरा नहीं । क्योंकि मरने बाद तो धनवान् के धन तथा स्त्री से भी दूसरे ही लोग क्रीड़ा करते हैं ॥ १६१ ॥

किञ्च—यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने ।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥ १६२ ॥

अ०—दिने दिने यद् विशिष्टेभ्यो ददासि, यच्च अश्नासि, तत् ते वित्तम् (इति) अहं मन्ये, शेषं कस्यापि रक्षसि । व्या०—दिने = दिने = अहनि अहनि, यत् = यद्

द्रव्यम्, विशिष्टेभ्यः = श्रेष्ठसत्पात्रेभ्यः, ददासि = अर्पयसि, यच्च = धनम्, स्वयम् अश्नासि = स्वोपभोगार्थं व्ययं नयसि, तत् = वित्तम्, ते = तवास्ति इति अहं मन्ये = स्वीकरोमि। अथ च शेषं = दानाऽशनाऽतिरिक्तं द्रव्यन्तु, कस्यापि = कस्यचिदन्यस्योपभोगार्थम्, रक्षसि = स्थापयसि इति।

भा०—जिस द्रव्य को सत्पात्रों को दान देते हो और अपने भी उपयोग में खर्च करते हो वही तुम्हारा है और बाकी सब दूसरे के लिये ही रखते हो—ऐसा मैं समझता हूं ॥१६२॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन।

भा०—जाने दो, इस समय गई बातों के विवेचन से क्या काम है?

यतः—**नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।**
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ १६३ ॥

अ०—पण्डितबुद्धयः नराः अप्राप्यं न अभिवाञ्छन्ति, नष्टं शोचितुं नेच्छन्ति, आपत्सु अपि न मुह्यन्ति। व्या०—पण्डितबुद्धयः = पण्डितानां बुद्धिरिव बुद्धिर्येषान्ते स्थिरमतयः, नराः=जनाः, अप्राप्यं प्राप्तुं योग्यं प्राप्यं न प्राप्यम् अप्राप्यम्=अलभ्यम् नाभिवाञ्छन्ति = प्राप्तुं नेच्छन्ति, नष्टं= नाशं गतं वस्तु च, शोचितुं = शोकविषयं कर्तुम्, नेच्छन्ति = नाभिलषन्ति। आपत्सु = दुःखदविपत्तिषु प्राप्तासु सतीषु, अपि न मुह्यन्ति = मोहं न कुर्वन्ति इति।

भा०—पाण्डित्ययुक्त बुद्धिवाले मनुष्य अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते हैं, नष्ट वस्तु का शोक नहीं करते हैं, आपत्ति में अधीर नहीं होते हैं ॥ १६३ ॥

तत् सखे! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः—

भा०—इसलिये सखे! मूषिक! तुमको सदा उत्साह-सहित रहना चाहिये। क्योंकि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १६४ ॥

अ०—(जनाः) शास्त्राणि अधीत्य अपि मूर्खाः भवन्ति, यः पुरुषः क्रियावान् स विद्वान्, औषधं नाममात्रेण सुचिन्तितम् आतुराणाम् अरोगं न करोति। व्या०—(जनाः) शास्त्राणि, वेदादीनि अधीत्य=पठित्वा अपि, मूर्खाः=कुण्ठिताचरणाः भवन्ति= अवतिष्ठन्ते। यस्तु पुरुषः=जनः, क्रियावान्=अधीतविधाचरणप्रचारणवान्, स एव विद्वान् = यथार्थपण्डितः। यथा औषधं = भेषजम्। नाममात्रेण = तन्नाम्ना, सुचिन्तितमपि = बहु स्मृतमपि, आतुराणां = रोगिणाम्, अरोगं = रोगध्वंसम्, न करोति। (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—शास्त्रों को पढ़कर भी लोग मूर्ख बने रहते हैं, जो मनुष्य शास्त्र पढ़कर तद्नुसार चारित्र्य पालते हैं वे ही यथार्थ विद्वान् हैं। खूब याद करने पर भी औषध का नाम रोगी के रोग का नाश नहीं करता है॥ १६४॥

अन्यच्च—**न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।**

अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः॥

अ०—विज्ञानविधिः अध्यवसायभीरोः स्वल्पमपि गुणं न करोति। हि इह हस्ततलस्थितः अपि प्रदीपः अन्धस्य अर्थं प्रकाशयति किम्? व्या०—विज्ञानविधिः=विशेषेण ज्ञायते इति विज्ञानं शास्त्रम्, तस्य विधिः विधानम्, उपदेश इति यावत्। अध्यवसायभीरोः=अध्यवसायात् अनुष्ठानात् भीरुः पराङ्मुखः तस्य, आचरणशून्यजनस्येत्यर्थः। स्वल्पमपि=स्तोकमपि, गुणम्=उपकारं लाभं न करोति। हि=तथाहि, इह=भुवि, हस्ततलस्थितः=हस्तस्य स्वकरस्य यत् तलं तत्र स्थितः=गृहीतः अपि, प्रदीपः, अन्धस्य=चक्षुर्विहीनस्य जनस्य, अर्थं=पदार्थं वस्तुजातं, प्रकाशयति किम्?=प्रकटीकरोति किम्? अर्थात् न प्रकाशयति (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—आचरणहीन पुरुष को शास्त्रोपदेश कुछ भी नहीं करता है, जैसे इस लोक में हाथ में रक्खा हुआ भी प्रदीप अन्धे को प्रकाश नहीं करता है॥ १६५॥

तदत्र सखे दशाऽतिशेषेण शान्तिः करणीया, एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्।

व्या०—तत् तस्माद्धेतोः, सखे! मित्र! अत्र=मम गृहे दशाऽतिशेषेण दशाया अवस्थाया अतिशेषः अतिक्रमणं तेन, शान्तिः=सुखस्थितिः, करणीया=अवलम्बनीया, त्वया एतदपि=एषा स्थितिर्मम गृहावस्थानरूपा अतिकष्टम्=अतिदुःखदा, न मन्तव्यं=नाऽनुसन्धेयमिति।

भा०—इसलिये मित्र मूषक! तुम शेष अवस्था मेरे ही घर में व्यतीत करो, यह मेरे घर में निवास करना भी कष्टरूप मत मानना।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।

चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ १६६॥

अ०—आपतितं सुखं तथा आपतितं दुःखं सेव्यम्, सुखानि च दुःखानि च चक्रवत् परिवर्तन्ते। व्या०—आपतितं=समुपस्थितम्, सुखं सेव्यम्=अनुभवनीयम्। तथा=तेन प्रकारेण, आपतितं दुःखमपि सेव्यम्=अनुभवनीयम्, सुखानि च दुःखानि च, चक्रवत्=चक्रं यथा भ्रमति तथा, परिवर्तन्ते=क्रमशः आगच्छन्ति।

भा०—आया हुआ सुख और दुःख दोनों को सहन करना चाहिये। क्योंकि जगत में सुख और दुःख चक्र की तरह घूमते (आते-जाते) रहते हैं॥ १६६॥

अन्यच्च—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥ १६७ ॥

अ०—मण्डूकाः निपानमिव, अण्डजाः पूर्णं सरः इव, सर्वसम्पदः विवशाः सोद्योगं नरमायान्ति । व्या०—मण्डूकाः = भेकाः, निपानं = क्षुद्रजलाशयम् , इव, अण्डजाः = अण्डेभ्यो जाता अण्डजाः = पक्षिणः, पूर्णं = प्रभूतजलयुक्तम्, सरः = तडागमिव, सर्वसम्पदः = सर्वाश्च ताः सम्पदः सर्वसमृद्धयः, विवशाः=सोद्योगजनाऽधीनाः सत्यः, सोद्योगम् = उद्योगेन सहितः तम् , नरं = जनम् , आयान्ति = समुपतिष्ठन्ते इति ।

भा०—मण्डूक जैसे जलाशय के प्रति जाते हैं, पक्षिगण जैसे पूर्ण सरोवर के प्रति जाते हैं वैसे ही उद्योगपूर्ण जन के प्रति सर्वसम्पत्तियाँ विवश होकर आ पड़ती हैं ॥ १६७ ॥

अपि च—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥१६८॥

अ०— लक्ष्मीः निवासहेतोः स्वयम् उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेषु असक्तं शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च (जनम्) याति । व्या०—लक्ष्मीः=सम्पद्देवी, निवासहेतोः=निवासः अवस्थानम् एव हेतुः निमित्तं तस्मात् निवासार्थम्, स्वयम्=आत्मनैव, उत्साहसम्पन्नम्=उत्साहेन उद्योगेन सम्पन्नः युक्तः तम् , अदीर्घसूत्रम् = दीर्घं चिरेण सूत्रयति सम्पादयति इति दीर्घसूत्रः, स न भवति इति अदीर्घसूत्रः तम् , शीघ्रकार्यकारिणमित्यर्थः । क्रियाविधिज्ञम् = क्रियाणां कर्तव्यविषयाणां विधयः विनियोगाः तान् जानाति विवेचयतीति क्रियाविधिज्ञः तम् यथायोग्यकार्यानुष्ठानवेत्तारमित्यर्थः । व्यसनेषु = मद्यद्यूतमृगयादिषु. असक्तम् = न सक्तः असक्तः तम् , अनिहितमानसमित्यर्थः । शूरं = वीर्यवन्तम् , कृतज्ञम्=कृतम् उपकृतं जानाति इति तम् कृतज्ञम् , उपकारवेत्तारमित्यर्थः । दृढसौहृदम् = दृढम् अन्तरायशून्यं सौहृदं मैत्री यस्य सः तादृशं जनम् , याति = अभिगच्छति । (उपजातिवृत्तम्) ।

भा०—लक्ष्मी निर्विघ्न निवासस्थान के लिये उत्साही, शीघ्रकार्यकारी, कर्तव्याकर्तव्यविवेकशाली, व्यसनशून्य, शूर-वीर, कृतज्ञ और दृढमित्र ऐसे जो पुरुष हैं उनके यहाँ स्वयं जाकर रहती है ॥ १६८ ॥

विशेषतश्च—विनाऽप्यर्थैर्धीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं श्वा किं धृतकनकमालोऽपि लभते ॥१६९॥

अ०—धीरः अर्थैः विनाऽपि बहुमानोन्नतिपदं स्पृशति, कृपणः अर्थैः समायुक्तोऽपि परिभवपदं याति, श्वा धृतकनकमालः अपि स्वभावात् उद्भूता गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां सैंहीं द्युतिं लभते किम् ?। व्या०—धीरः = सुदैवो विबुधो जनः, अर्थैः विनाऽपि = द्रव्याणि विनाऽपि, बहुमानोन्नतिपदं = बहुमानः बहुलोकादरः उन्नतिः अभ्युदयः तयोः पदं स्थानं तादृशीं स्थितिमित्यर्थः, स्पृशति लभते=विन्दति इति । कृपणः = दैवहीनः जनः, अर्थैः = द्रव्यैः समायुक्तः सन्नपि, परिभवपदं = परिभवस्य अपमानस्य अपकृष्टताया वा पदं स्थानं याति । तथा हि—श्वा = कुक्कुरः, धृतकनकमालः अपि = धृता कनकस्य सुवर्णस्य माला येन सः तथाविधः सन्नपि, स्वभावात् = निसर्गात्, उद्भूताम् = उत्पन्नां प्रकाशमानाम्, गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयाम् = गुणानां शौर्यादीनां समुदयः समुदायः तस्य अवाप्तिः प्राप्तिः तस्या विषया सूचिका ताम्, बहुगुणयोगबोधिकामित्यर्थः। एतादृशीं सैंहीम् = सिंहस्य इयं सैंही ताम्, द्युतिं = कान्तिम्, लभते = विन्दति, किम् ? अर्थात् नैव विन्दति इति (शिखरिणी वृत्तम्)।

भा०—धीर पुरुष द्रव्यहीन होने पर भी बहुसम्मान तथा अभ्युदय को पाते हैं और बहुद्रव्ययुक्त भी कृपण जन पराभव ही पाते हैं । यह बात यथार्थ है । क्योंकि कुत्ता सुवर्णकी माला धारण करने पर भी स्वाभाविक उत्पन्न होने वाली तथा शौर्यादिगुणसमूह को सूचित करने वाली सिंह की कान्ति (ऐश्वर्यशालिता) को कभी नहीं पा सकता ॥ १६९ ॥

किञ्च—धनवानिति हि मदस्ते किं गतविभवो विषादमुपयासि ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १७० ॥

अ०—धनवान् इति ते मदः, किं गतविभवः विषादम्, उपयासि, हि मनुष्याणां पातोत्पाताः करनिहतकन्दुकसमाः । व्या०—यदि धनवान् = धनाढ्यः अस्मि, इति इत्येवंविधः, ते = तव, मदः = अभिमानः, अस्ति तर्हि किं = कथम् ? गतविभवः = गताः, विनष्टाः विभवाः सम्पत्तयो यस्य सः एतादृशः सन् विषादं=खेदम्, उपयासि=प्राप्नोसि । हि = यतः, मनुष्याणां = जनानाम्, पातोत्पाताः=पाताश्च उत्पाताश्चेति पातोत्पाताः अवनत्युन्नतयः । करनिहतकन्दुकसमाः = करेण हस्तेन निहतः ताडितः यः कन्दुकः गेन्दुकः तेन समाः सदृशाः भवन्ति । (आर्यावृत्तम्)।

भा०—'मैं धनवान् हूं' ऐसा यदि तुमको मद है तो फिर विभव नहीं रहने पर क्यों शोक करते हो ? क्योंकि—मनुष्यों की अवनति तथा उन्नति हाथ से मारे हुये गेंद की तरह होती रहती है ॥ १७० ॥

अन्यच्च—वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १७१ ॥

अ०—वृत्त्यर्थं न अतिचेष्टेत, हि सा धात्रैव निर्मिता, जन्तौ गर्भात् उत्पतिते,

मातुः स्तनौ प्रस्रवतः। व्या०—वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम्, न अति चेष्टेत—अति प्रयासं न कुर्यात्। हि—यतः, सा—वृत्तिः, धात्रैव=विधात्रा एव, निर्मिता=प्रथमतः निर्धारिता भवति। यथा हि जन्तौ=बाले, गर्भात्=उदराशयात्, उत्पतिते=ऊर्ध्वं बहिः निःसृते सति, मातुः=जनन्याः, स्तनौ=पयोधरौ, निसर्गत एव प्रस्रवतः=पयः सुस्रुतः।

भा०—जीविका के लिये अति चेष्टा नहीं करना, क्योंकि विधाताने ही जीविका का निर्माण किया है। बालक के गर्भ के बाहर आते ही उसके लिये माता के स्तनों से दूध बहता है ॥ १७१ ॥

अपि च सखे! शृणु (और भी सुनो मित्र!)

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १७२ ॥

अ०—येन हंसाः शुक्लीकृताः, शुकाश्च हरितीकृताः, येन मयूराश्च चित्रिताः, सः ते वृत्तिं विधास्यति। व्या०—येन विधात्रा, हंसाः=हंसपक्षिणः, शुक्लीकृताः=शुभ्रवर्णाः कृताः, शुकाश्च=कीराश्च, हरितीकृताः=हरिद्वर्णाः कृताः, येन च विधात्रा, मयूराः=शिखिनः, विचित्राः=विचित्रवर्णाः कृताः उत्पादिताः, सः=स एव विधाता, ते=तव, वृत्तिं=जीविकाम्, विधास्यति=समुपस्थापयिष्यतीति।

भा०—जिस विधाता ने हंसों को सफेद बनाया, सुग्गों को हरा बनाया और जिसने मयूरों को रङ्गविरङ्गा बनाया, वही विधाता तुम्हारी भी जीविका चलायेगा ॥ १७२ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु, मित्र! (और भी बड़े लोगों का रहस्य सुनो, मित्र!)

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १७३ ॥

अ०—अर्थाः अर्जने दुःखं जनयन्ति, विपत्तिषु तापयन्ति, सम्पत्तौ च मोहयन्ति, (अतस्ते) कथं सुखावहाः?। व्या०—अर्थाः=द्रव्याणि, अर्जने=उपार्जने संकलीकरणे, दुःखं=बहुप्रयासं क्लेशं, जनयन्ति=उत्पादयन्ति। विपत्तिषु=चौरादिकृतहरणादिषु, तापयन्ति=परितापम् उत्पादयन्ति। सम्पत्तौ=बहुविधे ऐश्वर्ये सति, तु, मोहयन्ति=मदं जनयन्ति। (इत्यस्माद्धेतोः अर्थाः) कथं=केन प्रकारेण, सुखावहाः=सुखम् आवहन्तीति सुखावहाः सुखसम्पादकाः भवन्ति, न कथमपीत्यर्थः।

भा०—धन को प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, चोरादि के ले जाने से क्लेश होता है, खूब सम्पत्ति हो जानेसे मदोन्मत्तता आती है। अब कहो द्रव्य किस स्थिति में सुखदायी है? ॥

अपरञ्च—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १७४ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थं वित्तेहा, तस्य निरीहता वरम् । पङ्कस्य प्रक्षालनात्, दूरात् अस्पर्शनं वरम् । व्या०—यस्य = यज्जनस्य, (अधर्मं कृत्वा पश्चात्तन्नाशाय) धर्मार्थं= यागदानादिधर्माचरणार्थम्, वित्तेहा = वित्तस्य धनस्य ईहा धनार्जनचेष्टा भवति, तस्य = तज्जनस्य, निरीहता = निः नास्ति ईहा चेष्टा यस्य तस्य भावस्तत्ता अर्जनविराम एव वरं = श्रेष्ठा मनाक्प्रियो भवति इति । तथा हि—पङ्कस्य = कर्दमस्य प्रक्षालनात् = कर्दमप्रक्षालनापेक्षया, दूरात् = प्रथमत एव, अस्पर्शनं = न स्पर्शनं, वरं भवति ।

भा०—(अधर्म करके उसके नाश के लिये) धर्मकार्य करने में साधनभूत द्रव्यप्राप्ति की चेष्टा करना, उससे धन प्राप्ति की चेष्टा ही नहीं करना श्रेयस्कर है, जैसे कीचड़ में पैर डुबाकर फिर कीचड़ के धोने की अपेक्षा प्रथम से कीचड़ का स्पर्श ही नहीं करना श्रेष्ठ है ॥

यतः—यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १७५ ॥

अ०—आमिषं यथा आकाशे पक्षिभिः, भुवि श्वापदैः, सलिले मत्स्यैः भक्ष्यते, तथा वित्तवान् सर्वत्र (भक्ष्यते) । व्या०—आमिषं = मांसम् (कर्मपदम्) यथा आकाशे = गगने, पक्षिभिः = खगैः भक्ष्यते, भुवि = भुवस्तले, श्वापदैः=हिंस्रप्राणिभिः भक्ष्यते, सलिले = जले तु, मत्स्यैः = मत्स्यादिभिः, भक्ष्यते = ग्रस्यते, तथा वित्तवान् = वित्तं धनम् अस्याऽस्तीति वित्तवान् धनाढ्यजनः, सर्वत्र = सर्वेषु स्थलेषु, भक्ष्यते=सर्वैः दस्युप्रतारकैः प्रतार्यते इति ।

भा०—मांस को जैसे आकाश में पक्षी खा जाते हैं, पृथिवी में हिंस्रप्राणी खा जाते हैं, जल में मत्स्य आदि खा जाते हैं, वैसे ही धनाढ्य का भी सभी स्थलों में धूर्त-चौरादि धन ले लेते हैं ॥ १७५ ॥

अन्यच्च—राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १७६ ॥

अ०—प्राणभृतां मृत्योरिव अर्थवतो राजतः सलिलात् अग्नेः चौरतः स्वजनादपि नित्यं भयम् (भवति) । व्या०—प्राणभृताम् = प्राणान् बिभ्रति इति प्राणभृतः तेषाम्, शरीरिणामित्यर्थः । मृत्योरिव = मरणात् यथा भयं भवति; तथा अर्थवतां=धनवतां जनानाम्, राजतः=(पञ्चम्यास्तस्) राज्ञः नृपतेः, सलिलात् = जलात्, अग्नेः=वह्नेः, चोरतः = तस्करात्, स्वजनादपि = स्वो जनः बन्धुप्रभृतिः तस्मात् अपि नित्यं = सर्वदा, भयं = भीतिः, भवति = वर्तते ।

भा०—प्राणी को जैसे मृत्यु से भय रहता है वैसे ही धनाढ्य को राजा से, जल से, अग्नि से, चोरों और स्वजनों से भी निरन्तर भय रहता है ॥ १७६ ॥

अथ। हि—जन्मनि क्लेशबहुले किन्नु दुःखमतः परम्।
इच्छासम्पद् यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥१७७॥

अ०—यतः क्लेशबहुले जन्मनि इच्छासम्पत् नास्ति, यच्च इच्छा न निवर्तते, अतः परं दुःखं किं नु? व्या०—यतः = यस्माद्धेतोः, क्लेशबहुले = कष्टप्रधाने, जन्मनि = जीवने, इच्छासम्पत् = इच्छानुरूपा सम्पत् इच्छासम्पत् (मध्यमपद-लोपी समासः) स्वेच्छानुसारं सम्पत् नास्ति न मिलति। अथ च यत्, इच्छाऽपि= सम्पत्तृष्णाऽपि, न निवर्तते=न शाम्यति। (वद भोः) अतः परम् = अस्मादन्यत्, दुःखं = कष्टम्। किं नु? (नु-वितर्के) किं = कीदृशं भवति?

भा०—(क्या कारण है कि) क्लेशमय संसार में इच्छाऽनुसार सम्पत्ति नहीं मिलती है और इच्छा की निवृत्ति भी नहीं होती है। इससे ज्यादा और कौन सा दुःख है? ॥१७७॥

अन्यच्च भ्रातः शृणु—
धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १७८ ॥

अ०—धनं तावत् असुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते, लब्धनाशः यथा मृत्युः, तस्मादेतत् न चिन्तयेत्। व्या०—धनं=द्रव्यम्, तावत्=आदौ, असुलभं=न सुखेन लभ्यते। लब्धम् = अर्जितं सत्, अपि, कृच्छ्रेण = महता कष्टेन, पाल्यते = रक्ष्यते, लब्धनाशः लब्धस्य धनस्य नाशः क्षयः, यथा=यद्वत्, मृत्युः=तद्वत् मृत्युसमदुःखदो भवति। तस्मात् एतत् = द्रव्योपार्जनादिकं, न चिन्तयेत् = न समीहेतेति।

भा०—धन प्रथमतः कष्ट से मिलता है, मिलने पर दुःख से उसका रक्षण करना पडता है और प्राप्त करने के बाद उसका नाश होना मृत्युसमान कष्टदायी होता है। इसलिये द्रव्य का चिन्तन ही नहीं करना चाहिये ॥ १७८ ॥

सा तृष्णा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यञ्च शिरसि स्थितम् ॥ १७९ ॥

अ०--सा तृष्णा परित्यक्ता चेत् कः दरिद्रः? कः ईश्वरः?। तस्याः प्रसरः दत्तश्चेत्, दास्यञ्च शिरसि स्थितम्। व्या०— सा=पूर्वोक्ता, तृष्णा=धनस्पृहा,(जनेन) परित्यक्ता=विलीनीकृता चेत्! (तदा तस्य जनस्य दृष्ट्यां) कः दरिद्रः=धनशून्यः, कश्च ईश्वरः=धनी, तृष्णारहितस्य विरक्तस्य दारिद्र्यम् ऐश्वर्यञ्चेत्युभयमपि सममित्यर्थः। तस्याः = धनतृष्णायाः प्रसरः = अवसरः, दत्तः चेत्! (तदा अवश्यं) दास्यं=दासत्वम्, शिरसि = मस्तके, स्थितं भवति आरोहतीत्यर्थः।

भा०—वह तृष्णा अगर त्याग कर दी जाय तो (उस विरक्त पुरुष की दृष्टि में) कौन दरिद्र है ? और कौन धनी है ? (कोई नहीं है) और यदि तृष्णा को अवसर दिया गया तो अवश्य ही पुरुष के शिर पर दासत्व आरूढ हो जाता है ॥ १७९ ॥

अपरञ्च—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवाऽर्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १८० ॥

अ०--यद् यदेव हि वाञ्छेत, ततो वाञ्छा प्रवर्तते, यतः वाञ्छा निवर्तते स अर्थः अर्थत एव प्राप्तः । व्या०--यद् यद् एव=यद्यद्वस्तु, वाञ्छेत=अभिलषेत् ततः= तदुत्तर, वाञ्छा=इच्छा तृष्णा, प्रवर्तते=अधिका भवति । यतः=यस्मात् वस्तुनः, वाञ्छा=प्राप्त्यभिलाषः, निवर्तते=विलीना भवति, सः अर्थः=तद्वस्तु, अर्थतः= वस्तुतः, प्राप्त एव=लब्ध एवेति ।

भा०—जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, उससे इच्छा बढ़ती ही जाती है, जिस वस्तु से इच्छा निवृत्त हो जाती है वही वस्तु वास्तविक में मिली है ॥ १८० ॥

किं बहुना, विश्रम्भालापैः मयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

भा०—अब ज्यादा क्या कहना है ? विश्वासपूर्वक बातचीत करते हुए मेरे साथ यहीं जीवन व्यतीत करो ।

यतः—आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १८१ ॥

अ०--महात्मनां प्रणयाः आमरणान्ताः कोपाः तत्क्षणभङ्गुराः परित्यागाश्च निःसङ्गाः भवन्ति हि । व्या०—महात्मनाम्=उदारचरितानां जनानाम्, प्रणयाः=प्रेम भावाः आमरणान्ताः=मरणात् आ इति आमरणम् , आमरणं समयः अन्ते येषान्ते, मरणाऽवधिकाः भवन्तीति । एवं कोपाः=क्रोधादयस्तु, तत्क्षणभङ्गुराः=स चासौ क्षणः तत्क्षणः तत्क्षणे भङ्गुराः उत्पत्युत्तरद्वितीये क्षणे एव विलयशीला भवन्तीति । एवं परित्यागाः=दानादयस्तु, निःसङ्गाः=निः नास्ति सङ्ग आसक्तिः येषु ते तथाविधाः भवन्तीति । हि=निश्चये ।

भा०--महापुरुषों का स्नेह आमरणान्त स्थिर होता है, कोप क्षणभङ्गुर होता है, दानादि स्वार्थरहित होते हैं ॥ १८१ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा आश्रयणीयोऽसि ।

भा०—ऐसा मन्थर का वचन सुनकर लघुपतनक बोला—धन्य हो मन्थर ! तुम सब प्रकार से आश्रय करने योग्य हो ।

यतः—सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ १८२ ॥

अ०—सन्तः एव नित्यं सताम् आपदुद्धरणक्षमाः, पङ्कमग्नानां गजानां गजाः एव धुरन्धराः (भवन्ति)। व्या०—सन्तः = साधुजनाः एव, सतां = साधुजनानाम्, आपदुद्धरणक्षमाः=आपदां विपत्तीनाम् उद्धरणम् अपनयनं तस्मिन् क्षमाः समर्थाः (भवन्तीति)। तथा हि-पङ्कनिमग्नानाम् = पङ्के कर्दमे निमग्नाः, तेषां गजानां= हस्तिनाम् , (उद्धरणे=बहिः निष्कासने इति शेषः ।) गजाः=करिण एव धुरन्धराः= धुरं भारं धरन्तीति धुरन्धराः, भवन्तीति ।

भा०—क्योंकि-सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की आपत्तियाँ दूर करने में समर्थ होते हैं। जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथी को बाहर निकालने में हाथी ही समर्थ होते हैं ॥ १८२ ॥

अपरञ्च—श्लाघ्यः स एको भुवि मानवाना
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाविभङ्गा विमुखाः प्रयान्ति ॥ १८३ ॥

अ०—भुवि यस्य (सकाशात्) अर्थिनो वा शरणागता वा आशाविभङ्गाः (सन्तः) विमुखाः न प्रयान्ति, सः एकः मानवानां श्लाघ्यः, सः उत्तमः सत्पुरुषः, सः धन्यः। व्या०—भुवि = जगति, यस्य = ऐश्वर्यशालिनः जनस्य सकाशात् , अर्थिनः = याचकाः वा, शरणागताः वा=शरणम् आगताः गृहागता वा केऽपि जनाः, आशाविभङ्गाः = आशायाः प्राप्त्यभिलाषस्य विभङ्गो अफलता येषान्ते तथाविधाः सन्तः, विमुखाः = पराङ्मुखाः, न प्रयान्ति = न गच्छन्ति सः एकः = अद्वितीयः मानवानां = मनुष्याणां मध्ये, श्लाघ्यः = प्रशंसास्पदम् , स एव च उत्तमः = श्रेष्ठः सत्पुरुषः = संश्चासौ पुरुषः । स एव च धन्यः सफलमनुजजन्मा भवतीति ।

भा०—जगत् में जिस ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ मनुष्य के याचक तथा शरणागत जन आशा-भङ्ग हो जाने से लौट नहीं जाते वही ऐश्वर्यशाली जन मनुष्यों में श्लाघनीय है, वही उत्तम सत्पुरुष है, और वही धन्य है ॥ १८३ ॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्तिस्म । अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृगः केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलितः । तत्पश्चादायान्तं भयहेतुं सम्भाव्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः, काकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलम्बितः, पश्चात्-तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्थरेणोक्तम्-भद्र मृग ! कुशलं ते ? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथी-

क्रियताम् । चित्राङ्गो ब्रूते–लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः । ततश्च भवद्भिः सह मित्रत्वमिच्छामि, भवन्तश्च अनुकम्पयन्तु मैत्र्येण ।

व्या०—तदेवं प्रकारेण, ते = हिरण्यकादयः, आहारविहारम् = आहारेण सहितः विहारः आहारविहारः स्वेच्छया आहारविहारस्तम् , कुर्वाणाः = आचरन्तः सन्तः, सन्तुष्टाः = सन्तोषान्विताश्च, सुखम् = आनन्दः यथा स्यात् तथा, निवसन्ति स्म । अथ = अनन्तरम् , कदाचित् = कस्मिंश्चित्काले, केनापि = केनचिद्व्याधेन, त्रासितः = भयं नीतः, चित्राङ्गनामा मृगः = हरिणः, तत्र = मन्थरनिवासे, आगत्य मिलितः = सङ्गतः । तत्पश्चात् = तस्य मृगस्य पश्चात् पृष्ठोत्तरम् , आयान्तम् = आगच्छन्तरम् , भयहेतुम् = भयस्य हेतुं कारणं व्याधरूपम् , सम्भाव्य = निर्धार्य मन्थरः = तन्नामा कूर्मः, जलं प्रविष्टः । मूषिकश्च, विवरं = बिलम् गतः = प्रविष्टः । काकोऽपि = वायसोऽपि, उड्डीय = उत्प्लुत्य, वृक्षाग्रम् = वृक्षस्य अग्रं शाखाग्रम् , आरूढः = अधिष्ठितः ततः लघुपतनकेन काकेन, सुदूरम् = अतिदूरं, निरूप्य = निरीक्ष्य, कोऽपि कश्चिदपि, भयहेतुः = भीतिकारणं, न अवलम्बितः—न अवलोकितः । पश्चात् तद्वचनात् = लघुपतनककाकस्य वचनात् भयाभावसूचकवाक्यात् , आगत्य पुनः सर्वे = कूर्मादयः, मिलित्वा = सङ्गम्य, तत्रैव स्थले उपविष्टाः = उपनिषेदुः । मन्थरेण कच्छपेन = उक्तम्—भद्र मृग ! प्रिय सज्जनहरिण ! कुशलं ते ? भवान् सकुशलोऽसि ? स्वेच्छया = यथेच्छम् , उदकाद्याहारः = उदकम् आदिर्यस्य सः उदकादि एतादृशः आहारः = घासादिखाद्यम् , अनुभूयतां = गृह्यताम् । अत्र = मम गृहे, अवस्थानेन = निवासेन, वनमिदं = एतद्वनम् , सनाथीक्रियताम् = असनाथं नाथेन प्रियेण सहितं सनाथं क्रियताम् विधीयताम् । चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितः = लुब्धकेन व्याधेन त्रासितः भयं गमितः सन्नहम् , भवतां = कूर्मकाकमूषिकाणां शरणमागतः । ततश्च = तस्माद्धेतोः भवद्भिः = सर्वैः सह, मित्रत्वं = सख्यम् , इच्छामि । भवन्तश्च = यूयं सर्वे, मैत्र्येण = मैत्रीकरणेन, अनुकम्पयन्तु = अनुगृह्णन्तु ।

भा०—इस प्रकार वे कूर्मादि सब इच्छानुकूल आहार-विहार आदि करते हुए सन्तोषपूर्वक सुख से निवास करते थे। एक बार चित्राङ्गनामक मृग किसी व्याध से भयभीत किया हुआ वहाँ आया। उस मृग के पीछे आते हुए भय के हेतु को समझकर मन्थर जल में घुस गया, मूषिक बिल में घुस गया, काक उड़कर पेड़ पर बैठ गया। उसके बाद लघुपतनक काक ने दूर तक देखा, लेकिन भय का हेतु कोई दिखाई नहीं पड़ा, तब काक के कहने से वे सब फिर से मिलकर बैठे। मन्थर ने कहा—भद्र मृग ! तुम कुशल से हो ? अपनी इच्छा के अनुसार जल-भोजनादि ग्रहण करो और यहाँ रहकर इस वन को सनाथ करो। चित्राङ्ग ने कहा—व्याध से भयभीत होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ। आप सब मित्रता स्वीकार कर अनुग्रह कीजिए।

यतः—लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्त्यजेच्छरणागतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १८४ ॥

अ०—यः लोभाद्वा अथ भयाद् वा अपि शरणागतं त्यजेत्, मनीषिणः तस्य ब्रह्महत्यासमं पापम् आहुः । व्या०—यः ऐश्वर्यशाली जनः, लोभाद्वा=द्रव्यादि-प्रलोभनेन, अथवा भयाद्=महत्कृतभीतिहेतोर्वा, अपि, शरणागतम्=शरणम् आगतः तम्, स्वाश्रयविश्वस्तं जनम्, त्यजेत्=जह्यात्, तादृशजनरक्षणं न कुर्या-दित्यर्थः । मनीषिणः=मनस्विनः बुद्धिमन्तः जनाः, तस्य=अरक्षकस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासमं-ब्रह्मणः=ब्राह्मणस्य हत्या वधः हननं तेन समं, पापं=दुष्कृतं दुरितम्, आहुः=कथयन्ति ।

भा०—जो पुरुष (समर्थ होने पर भी) लोभ से अथवा भय से शरणागत का रक्षण नहीं करता है विद्वान् लोगों ने उसको ब्रह्महत्या के समान पाप कहा है ॥ १८४ ॥

हिरण्यकोऽप्यवदत्—मित्रत्वं तावदस्माभिः सह, अयत्नेन निष्पन्नं भवतः ।

भा०—हिरण्यक ने कहा—अनायास ही हमारे साथ तुम्हारी मित्रता हुई ।

यतः—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।
रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १८५ ॥

अ०—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतं व्यसनेभ्यश्च रक्षकम् (इति) चतु-र्विधं मित्रं ज्ञेयम् । व्या०—औरसम्=उरसः जातं शरीरसम्बन्धादुत्पन्नम् अपत्या-दिकम्, कृतसम्बधं=कृतः नूतनो विहितः सम्बन्धः विवाहादिरूप आभाषणपूर्व-कस्वरूपो वा येन तत् तादृशम्, तथा वंशक्रमागतं=वंशस्य कुलस्य यः क्रमः पर-म्परा, तेन सह आगतम्, व्यसनेभ्यश्च=आकस्मिकाऽऽपद्भ्यश्च, रक्षकं=रक्षणकारि, इत्येवं चतुर्विधं=चतुष्प्रकारं, मित्रं=सुहृद् ज्ञेयं=बोध्यमिति ।

भा०—मित्र चार प्रकार के होते हैं—एक अपना पुत्र-प्रपौत्रादि, दूसरा विवाहादि सम्बन्ध वाले सम्बन्धी जन, तीसरा वंश-परम्पराओं से चले आते पड़ोसी आदि, चौथा आकस्मिक आपत्तियों से बचाने वाले, ये चार मित्र हैं ॥ १८५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम् । तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहारः पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरु-च्छायायामुपविष्टः ।

व्या०—तत्=तस्मात् मित्रस्वरूपहेतोः, स्वगृहनिर्विशेषेण=स्वस्य निजस्य तव गृहात् निः नास्ति विशेषः भेदो यस्य सः तेन स्वगृहभेदभावशून्येनेत्यर्थः । भवता=त्वया, अत्र स्थीयतां=स्थितिः निवासः क्रियतामित्यर्थः । तत्=हिरण्यकस्य वचनम्,

श्रुत्वा, मृगः = चित्राङ्गनामा हरिणः, सानन्दः=आनन्दपूर्णः भूत्वा, कृतस्वेच्छाहारः= कृतः अनुष्ठितः स्वस्य इच्छया आहारः भोजनं येन सः, यथेच्छं भोजनं कृत्वेत्यर्थः। पानीयं = जलम्, पीत्वा, जलासन्नवटतरुच्छायायाम् = जलस्य आसन्नः समीपवर्ती यः वटतरुः न्यग्रोधवृक्षस्तस्य छायायाम् , उपविष्टः = निषसाद।

भा०—इसलिये अपना घर मानकर तुम यहां ही रहो। हिरण्यक के इस वचन को सुनकर वह मृग आनन्दित हुआ, और यथेष्ट भोजन करके पानी पी के जलके समीपस्थ वटवृक्ष की छाया में बैठ गया।

अथ मन्थरो ब्रूते—सखे मृग ! केन त्रासितोऽसि ? अस्मिन्निर्जने वने कदाचित् किं व्याधाः सञ्चरन्ति ? मृगेण उक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नृपतिः, स च दिग्विजयव्यापारक्रमेण आगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावेशितकटको वर्तते, प्रातश्च तेनाऽत्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यम्' इति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते, तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथा कार्यं तथा आरभ्यताम्। तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'मित्र ! जलाशयाऽन्तरं गच्छामि'। काकमृगावपि उक्तवन्तौ—'मित्र ! एवमस्तु' हिरण्यको विमृश्याऽब्रवीत्—पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् , स्थले गच्छतोऽस्य का विधा ?

व्या०—मन्थरः = मन्थरनामा कूर्मः, ब्रूते = कथयति। सखे मृग ! केन=व्याधादिना, त्रासितः=त्रासं प्रापितः, असि = भवसि ? अस्मिन्निर्जने = मनुष्यरहिते, वने = अरण्ये, व्याधाः = लुब्धकाः, कदाचित् = कस्मिन्नपि काले, सञ्चरन्ति परिभ्रमन्ति, किम् = प्रश्ने। मृगेण=चित्राङ्गेण उक्तम्—कलिङ्गविषये=कलिङ्ग इति नाम्ना ख्यातः विषयः देशः तस्मिन् , रुक्माङ्गदनामा भूपतिः = राजा, अस्ति = विद्यते, स च राजा, दिग्विजयव्यापारक्रमेण = दिशां प्राच्यादिस्थदेशानां विजयस्य स्वायत्ती करणस्य व्यापारः अनुष्ठानं तस्य क्रमः परम्परा तेन, आगत्य = समेत्य चन्द्रभागानदीतीरे = 'चन्द्रभागा' नामनद्याः तीरे = तटप्रदेशे, समावेशितकटकः = समावेशितः सन्निवेशितः कटकः शिबिरो येन सः तथाविधः सन् , वर्तते, प्रातश्च= आगामिनि प्रातःकाले तेन=राज्ञा, अत्र = अस्मिन् वने, आगत्य=समेत्य, कर्पूरसरःसमीपे = कर्पूरसरसः समीपे निकटे, भवितव्यम् इति = इत्येवंरूपा, व्याधानां = लुब्धकानाम्, मुखात्, किंवदन्ती = गाथा, श्रूयते = मया आकर्ण्यते। तत्=स्तमाद्धेतोः प्रातः = आगामिनि प्रातःसमये, अत्राऽपि एतस्मिन्नावासेऽपि, अवस्थानं = स्थितिः भयहेतुकम् = भयं हेतुर्यस्य तत् भयफलकमित्यर्थः। इत्यालोच्य, यथा =

येन प्रकारेण, कार्यं = कर्तुं योग्यं तथा आरभ्यतां = विधीयताम्, तच्छ्रुत्वा, कूर्मः= मन्थरः, सभयं = भयभीतः सन् आह=मित्र हरिण! जलाशयाऽन्तरम्=अन्यः जला-शय इति जलाशयाऽन्तरम् अपरं जलह्रदं, गच्छामि = अपसरामि। ततः काकमृगौ अपि = काकश्च मृगश्च तौ अपि, उक्तवन्तौ = अभिहितवन्तौ मित्र! कूर्म! एव-मस्तु = यथा कथयसि तथाऽन्यत्र गमनं कुरु, हिरण्यकः = मूषिकः, विमृश्य = दीर्घं विचार्य, अब्रवीत्-पुनः जलाशये = तडागे, प्राप्ते = अधिगते सति एव, मन्थरस्य= कूर्मस्य, कुशलं = क्षेमम्, भविष्यति। स्थले = स्थलमार्गेण जलाशयान्तरं गच्छतः अस्य = कूर्मस्य, का विधा? = मध्ये का दशा भविष्यतीति?। (अर्थात् स्थले कथं गन्तुं पारयिष्यति)

भा०—मन्थर ने कहा--सखे मृग! किससे भयभीत हुए हो? क्या इस निर्जन वन में व्याध लोग आते हैं? मृगने कहा--'कलिङ्गदेश में रुक्माङ्गदनाम का राजा है, वह दिग्विजय करता हुआ चन्द्रभागा नदी के किनारे पर शिबिर डालकर टिका है, प्रातःकाल इस वन में कर्पूरसरोवर के समीप में आवेगा' ऐसी व्याधों की किंवदन्ती सुनी है, इस-लिये सुबह यहां पर भी रहना भयजनक है। सो आप बिचार करके जैसा करना हो वैसा कीजिये। यह सुनकर कूर्म भयभीत होकर बोला--मित्र मृग! मैं तो दूसरे जलाशय में जाता हूँ। काक और मृग दोनों ने कहा--'मित्र कूर्म! जैसे हो करो।' पर हिरण्यकने विचारपूर्वक कहा--'मन्थर जलाशय पहुँचने पर सुखी होगा। लेकिन पृथिवी पर जाते हुए इसका क्या हाल होगा?

यतः—**अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।**
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम्॥ १८६॥

अ०—जलजन्तूनाम् अम्भांसि, दुर्गनिवासिनां दुर्गम्, श्वापदादीनां स्वभूमिः, राज्ञां सैन्यं, च परं बलं भवति। व्या०—जलजन्तूनाम् = जलस्य जन्तवः प्राणिनः तेषाम्, जलचराणामित्यर्थः। अम्भांसि = जलानि, एव परं बलं भवति। दुर्गनिवा-सिनां = दुर्गे कोट्टे कोट्टमध्ये निवसन्ति इति दुर्गनिवासिनस्तेषाम्, दुर्गं=कोट्ट एव परं बलं भवति। श्वापदादीनां = शुनः पदमिव पदं येषान्ते श्वापदाः व्याघ्रादयः ते आदिर्येषान्ते इति श्वापदादयः व्याघ्रादयो वनवासिनः मूषिकादयश्च बिलवासिन-स्तेषामित्यर्थः। स्वभूमिः=स्वेषां भूमिः निवासस्थलम्, तदेव परं बलं भवति, राज्ञां = नृपाणां, सैन्यं परं बलं भवतीति।

भा०—जलजन्तुओं का परम बल जल ही है, किला के निवासियों का बल किला ही होता है, हिंस्र प्राणियों का बल अपना निवास स्थान ही है, और राजाओं का बल सैन्य ही होता है॥ १८६॥

अथाप्युपायश्चिन्त्यताम् । तथा चोक्तम्—

फिर भी उपाय ढूँढ़ना चाहिए ! कहा भी है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ १८७ ॥

अ०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमैः न शक्यम्, शृगालेन पङ्कवर्त्मना गच्छता (सता) हस्ती हतः । व्या०—उपायेन=साम-दान-भेददण्ड-मायेन्द्रजालादिप्रयोगेण, हि—निश्चये यत्=यत् कर्तुं शक्यं=लब्धुं योग्यं भवति, तत् पराक्रमैः शौर्यादिकरणेनाऽपि, न शक्यं=साधितुं लब्धुं योग्यं न भवतीति । तथा हि-शृगालेन=केनचित् जम्बुकेन, पङ्कवर्त्मना=पङ्कस्य कर्दमस्य वर्त्मना मार्गेण कर्दमप्रचुरमार्गमाश्रित्येत्यर्थः । गच्छता=व्रजता, (सता) महाबलोऽपि हस्ती=करी, हतः=विनाशित इति ।

भा०—उपाय से जो साध्य होता है वह पराक्रम से नहीं होता । शृगाल ने कीचड़ वाले मार्ग में चल कर हाथी को भी मारा था ॥ १८७ ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म 'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकम् एतेन देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्' । ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु ।' हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?' । सोऽवदत् 'जम्बुकोऽहं सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः, यद्विना राज्ञा स्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः ।

व्या०—ब्रह्मारण्ये='ब्रह्म' नाम्नि वने, कर्पूरतिलक इति नाम्ना ख्यातः, हस्ती=करी, अस्ति=वर्तते । सर्वे शृगालाः=तद्वनस्था जम्बुकाः, चिन्तयन्ति स्म=मन्त्रणां कुर्वन्ति स्म,—यदि अयं=हस्ती, केनाऽपि उपायेन, म्रियते=मरणं यास्यति, तदा अस्माकं=वनवासिनाम्, एतेन हस्तिनः देहेन, मासचतुष्टयस्य=मासानां चतुष्टयं तस्य, मासचतुष्टयपर्यन्तमित्यर्थः। स्वेच्छाभोजनम्=स्वेषाम् इच्छास्तासाम् अनुरूपं भोजनमिति स्वेच्छाभोजनम्, भवेत्=स्यात् । ततः=इत्येवं मन्त्रणाऽनन्तरम्, तन्मध्यात्=तेषां शृगालानां मध्यात्, एकेन वृद्धशृगालेन=वृद्धश्चासौ शृगालस्तेन, प्रतिज्ञा कृता, मया बुद्धिप्रभावात्=बुद्धेः प्रभावः चातुर्यं

तस्मात् , अस्य = हस्तिनः, मरणं = निधनम्, साधयितव्यं = घटयितव्यम् , अनन्तरम् = प्रतिज्ञां कृत्वेत्यर्थः । सः वञ्चकः = धूर्तः वृद्धश्रृगालः, कर्पूरतिलकनाम्नः हस्तिनः समीपं=पुरःप्रदेशं गत्वा, साष्टाङ्गपातम् = अष्टाङ्गैः करद्वयपादद्वयहृदयहस्तद्वयललाटात्मकैः सहितः भूमिस्पर्शपूर्वकः पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य = दण्डवन्नमस्कारं विधाय, उवाच—देव ! = स्वामिन् ! दृष्टिप्रसादं = दृष्ट्या अवलोकनेन, प्रसादं पवित्रं प्रसन्नतां वा, कुरु = विधेहि । हस्ती ब्रूते—कस्त्वम् = त्वं जात्यादिना कुलपरिचयेन च कः असि ? कुतः ? = कस्मात् स्थानात् कस्माच्च हेतोः समायातः आगतोऽसि ? । सः वृद्धश्रृगालः अवदत्—जम्बुकः = श्रृगालः, अस्मीति शेषः, अथ च सर्वैः = समस्तैः वनवासिभिः=वने वसन्ति इति वनवासिनः तैः, पशुभिः = श्वापदैः, मिलित्वा = सम्भूय, भवत्सकाशं = भवतः सन्निधौ, प्रस्थापितः = प्रेषितः, अस्मीति शेषः । यद् यस्माद्धेतोः, राज्ञा विना = नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्थातुं = व्यवस्थातुं, न युक्तं भवतीति । तत् = तस्माद्धेतोः, अत्र= एतस्मिन् , अटवीराज्ये = अटव्याः वनस्थल्याः राज्ये=राज्यसिंहासने, अभिषेक्तुम्= राजत्वेन स्वीकर्तुम् , सर्वस्वामिगुणोपेतः=सर्वे च ते स्वामिनः राज्ञः गुणाः शौर्यदयादयस्तैरुपेतः, अत एव भवान् = त्वमेव, निरूपितः = निर्धारितः ।

भा०—'ब्रह्म' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब श्रृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सबका चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा'। यह सुनकर उस श्रृगाल में से एक वृद्ध श्रृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि की चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा।' उसके बाद वह धूर्त वृद्ध श्रृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव ! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए।' हस्तीने कहा--'तुम कौन हो और क्यों आये हो ?' श्रृगाल बोला–मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओं ने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा बिना राज्य नहीं चल सकता है। इसलिये इस वनस्थली के राजसिंहासन पर अभिषेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं।

यतः—कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ १८८ ॥

अ०—(यः) कुलाचारजनाचारैः अतिशुद्धः प्रतापवान् , धार्मिकः नीतिकुशलः, (भवति) सः भुवि स्वामी युज्यते । व्या०—यः = पुरुषः, कुलाचारजनाचारैः = कुलस्य आचाराः वंशागतरीतयः जनस्य आचाराः लोकव्यवहारगतरीतयः तैः अतिशुद्धः =कलङ्करहितः, प्रतापवान्=ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थः । धार्मिकः= धर्मनिष्ठः, नीतिकुशलः = नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति । सः=तादृशः पुरुषः, भुवि= जगत्याम् , स्वामी = राजा नरपतिः, युज्यते =(जनैः) नियुज्यते ।

भा०—कुलाचार से तथा लोकाचार से अतिशुद्ध, प्रतापी, धार्मिक, नीतिकुशल जो हों वे ही पृथिवी में राजा के योग्य हैं ॥ १८८ ॥

अपरञ्च पश्य—

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥ १८९ ॥

अ०—**प्रथमं राजानं विन्देत् , ततः भार्याम्, ततः धनम्, अस्मिन् लोके राजनि असति, भार्या कुतः ? धनं च कुतः ?।** व्या०—**प्रथमम् = आदौ, राजानं=नरपतिम्, विन्देत्=आश्रयेत्, ततः भार्यां = पत्नीम् , विन्देत्=गृह्णीयात् , ततः धनं, विन्देत्= उपार्जयेत् , अस्मिन् लोके = संसारे, राजनि = नृपतौ, असति = अविद्यमाने सतीत्यर्थः, राजानुशासनमन्तरेणेति यावत् । भार्या = पत्नी, कुतः = कुत्र रक्षिता स्यात्, धनं च कुतः ? द्रव्यमपि कथं रक्षितं भवेत् ? उभयरक्षा राजाधीना इति भावः ।**

भा०—प्रथम राजा का आश्रय होना चाहिये, उसके बाद स्त्री का ग्रहण करना चाहिये और तब धन कमाना चाहिये । राज्य में राजा का अनुशासन यदि न हो, तो स्त्री तथा द्रव्य सब शत्रुओं से सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १८९ ॥

अन्यच्च—**पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।**
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ १९० ॥

अ०—**पृथिवीपतिः पर्जन्य इव भूतानाम् आधारः, हि पर्जन्ये विकलेऽपि जीव्यते, न तु भूपतौ ।** व्या०—**पृथिवीपतिः = पृथिव्याः पतिः, राजा, पर्जन्य इव = मेघ इव, भूतानां=प्राणिनाम् , आधारः=जीवनं रक्षको वा भवतीति । हि=यतः, तत्र पर्जन्ये= मेघे, विकलेऽपि कदाचित् अवर्षत्यपि, लोकैः जीव्यते । तु = किन्तु, भूपतौ=राजनि, विकले = विनष्टे सति, न जीव्यते ।**

भा०—राजा मेघ की तरह प्राणिमात्र का आधार है, उसमें भी मेघ के विना कथञ्चित् जीवन सुरक्षित चला सकते हैं, किन्तु राजा के विना नहीं ॥ १९० ॥

किञ्च—**नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-**
ज्जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥ १९१ ॥

अ०—**अस्मिन् परवशे जगति (सत्येव) प्रायशः दण्डयोगात् नियतविषयवर्ती (भवति) साधुवृत्तस्तु दुर्लभः (भवति) कुलनारी दण्डभीत्या कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा अधनं वा पतिम् अभ्युपैति ।** व्या०—**अस्मिन् = रागद्वेषप्रयुक्ते, जगति= संसारे, परवशे=कामलोभाद्यधीने प्रायशः प्रायेण, दण्डयोगात्=दण्डस्य शासनस्य योगः भयागमनं तस्मात् , नियतविषयवर्ती = नियते नीतियुक्ते विषये व्यवहारे**

वर्तते यः स नियतविषयवर्ती, (जनसमुदाय इति शेषः) भवति । यतः लोके साधुवृत्तस्तु=साधुः समीचीनम् वृत्तम् आचरणं यस्य सः एतादृशस्तु जनः, दुर्लभः= न लभ्यते । कुलनारी = सुकुलोत्पन्ना रूपगुणादिमती अपि नारी, दण्डभीत्या=राज-शासनभयेन, कृशं=निर्बलम् अपुष्टशरीरम्, विकलं=केनचित् इन्द्रियेण शून्यं काणं वा बधिरं वा कुरूपं वेति, व्याधितं = कफादिरोगग्रस्तं वा, अधनं=निर्धनं वा, पतिम् अभ्युपैति = स्वभर्तारम् स्वीकुरुते ।

भा०—यह काम-लोभादि दोष के अधीन संसार प्रायशः दण्ड के भय से ही अपने अपने पदार्थों में संतोष मान कर चलता है क्योंकि साधु आचरणवाले दुर्लभ होते हैं। कुलनारी भी दण्ड के भय से कृश, विकलाङ्ग, रोगी, निर्धन ऐसे पति की सेवा करती है ॥ १९१ ॥

तद् यथा लग्नवेला न चलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन। इत्युक्त्वा उत्थाय चलितः । ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापङ्के निमग्नः । हस्तिना उक्तम्— 'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? महापङ्के पतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य ?' । शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा उत्तिष्ठ, यस्मात् मद्विधस्य वचसि त्वया विश्वासः कृतः तस्य फलमे-तत् । तदनुभूयताम् अशरणं दुःखम् ।

व्या०—तत् = तस्मात्, यथा = यावत्, लग्नवेला = लग्नस्य राज्याभिषेकमुहू-र्तस्य समयः, न चलति = न अतिवर्तते, तथा=तेन प्रकारेण कृत्वा, सत्वरं = शीघ्रम्, आगम्यतां देवेन, इत्युक्त्वा, उत्थाय (वृद्धशृगालः) चलितः = गन्तुं प्रवृत्तः । ततः राज्यलोभाऽऽकृष्टः=राज्यस्य लोभेन आकृष्टः आहतबुद्धिः असौ कर्पूरतिलकनामा हस्ती, शृगालदर्शितवर्त्मना = शृगालेन प्रदर्शितं यत् वर्त्म=कर्दममार्गः तेन, धावन्= सवेगं गच्छन् सन्, महापङ्के = गम्भीरकर्दमे, निमग्नः = पतितः । ततः हस्तिना उक्तम्=सखे शृगाल ! अधुना = इदानीम्, किं विधेयं = निष्कासनोपायः कः अनु-ष्ठेयः ? । परावृत्य पश्य = प्रत्यावृत्य अवलोकय, अहं महापङ्के पतितः सन् म्रिये = मरणनिकटो भवामि । ततः शृगालेन विहस्य उक्तम्–देव ! मम पुच्छस्य अग्रे बालधिप्रान्ते, हस्तं=शुण्डं, दत्त्वा, उत्तिष्ठ = उत्थितो भव । यस्माद्धेतोः, मद्विधस्य= मादृशस्य धूर्तस्य, वचसि = वाक्ये, त्वया विश्वासः = विश्रम्भः कृतः, तस्य=विश्वा-सस्य, एतत् पङ्कनिमग्नतारूपं = फलम्, अवगच्छ । तदेतत् अशरणं = न विद्यते शरणम् उद्धारकः कश्चिदपि यस्य, एतादृशम्, दुःखम्, अनुभूयताम्=भुज्यताम् ।

भा०—इसलिये जब तक मुहूर्त का समय न चला जाय आपको वहाँ पहुँचना चाहिये। ऐसा कहकर वह शृगाल उठकर चला और राज्य के लोभवाला 'कर्पूरतिलक' हाथी भी शृगाल के बताये हुए मार्ग से दौड़ते-दौड़ते गहरे कीचड़ में फँस गया । हाथी ने कहा—

मित्र श्रृगाल ! अब क्या करूं, देखो मैं गहरे कीचड़ में फँसकर मरता हूँ। श्रृगाल ने हँस कर कहा—देव ! मेरी पूंछ को सूंड़ से पकड़ कर निकल आओ। मेरे जैसे धूर्त के वचन में आपने विश्वास किया इसका यह फल है, अब अनिवार्य दुःख का भोग करो।

तथा चोक्तं—**यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।**

यदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १९२ ॥

व्या०—(अन्वयो यथाश्रुतः) यदा = यस्मिन् काले, असत्सङ्गरहितः = असतां दुष्टानां सङ्गः प्रसङ्गः तेन रहितः शून्यः, भविष्यसि, तदा भविष्यसि=जीवनं धारयिष्यसीत्यर्थः। यदा तु–असज्जनगोष्ठीषु = असज्जनानां धूर्तानां गोष्ठीषु = वार्तासु, पतिष्यसि=विश्वासं करिष्यसि, तदा पतिष्यसि = महादुःखगर्ते पतिष्यसीति।

भा०—जब तक दुष्टों के संगसे बचते हो तब तक जीवन श्रेष्ठता से चलता है, जब दुष्ट के सङ्ग में पड़ जाते हो तब फिर एक रीति से, अधोगति होती है ॥ १९२ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती श्रृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'उपायेन हि यच्छक्यम्' (१८७) इत्यादि।

भा०—उसके बाद गहरे कीचड़ में फँसकर मरे हुये हाथी को श्रृगालों ने खूब खाया। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'उपाय से जो शक्य है' इत्यादि।

ततस्तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव मन्थरस्तज्जलाशयमुत्सृज्य प्रचलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमानास्तमनुजग्मुः, ततः स्थले गच्छन् केनाऽपि व्याधेन वने पर्यटता स मन्थरः प्राप्तः, स च तं गृहीत्वा उत्थाय धनुषि बद्ध्वा 'धन्योऽस्मि' इत्यभिधाय भ्रमणक्लेशात् क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं प्रयातः। अथ ते मृगवायसमूषिकाः परं विषादमुपगताः तमनुगच्छन्ति स्म। ततः हिरण्यको विलपति—

व्या०—ततः = तदनन्तरम्, तद्धितवचनम् = तस्य हिरण्यकस्य हितं हितकरं वचनम्, अवधार्य = अवज्ञाय, महता भयेन, विमुग्धः=मोहङ्गतः इव, मन्थरः कूर्मः, तज्जलाशयमुत्सृज्य=तत्प्राचीनं जलस्य आशयं तडागम्, उत्सृज्य=विहाय प्रचलितः= प्रस्थितः। ते हिरण्यककाकमृगाः अपि, अनिष्टं= भाविविपत्तिम्, आशङ्कमानाः = सन्दिहानाः सन्तः, स्नेहात् = मित्रप्रेम्णा, तं = कूर्मम्, अनुजग्मुः। ततः स्थले= पृथिव्याम्, गच्छन् सन् स मन्थरः = कूर्मः, केनाऽपि वने पर्यटता व्याधेन, प्राप्तः= दृष्टः, स च व्याधः, तं = मन्थरं, गृहीत्वा = उत्थाय, धनुषि = धनुष्प्रान्ते बद्ध्वा, 'धन्योऽस्मि' 'सद्भाग्योऽस्मि' इति अभिधाय = उच्चार्य, भ्रमणक्लेशात् = वनाटनपरिश्रमात्, क्षुत्पिपासाऽऽकुलः = क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासे ताभ्याम् आकुलः=

व्याप्तः सन् , स्वगृहाभिमुखं=स्वस्य निजस्य यद् गृहं निवासपुरं, तस्य अभिमुखं, प्रयातः=प्रस्थितः। अथ=अनन्तरम् , मृगवायसमूषिकाः, परम्=अत्यन्तं, विषादं=शोकम् , उपगताः (सन्तः), तं=कूर्महर्तारं व्याधम् , अनुगच्छन्ति स्म=अनुजग्मुः । ततः हिरण्यकः मूषिकराजः, विलपति=विलापं साऽऽक्रन्दन-विलपनं करोति—

भा०—हिरण्यक के हितकारी वचन को न मानकर बड़े भय से मुग्ध होकर मन्थर उस जलाशय को छोड़कर चल दिया, तब हिरण्यक, काक तथा मृग भी 'कूर्म अवश्य दुःखी होगा' ऐसा समझकर स्नेह के वश में होकर पीछे २ चले । अनन्तर पृथिवी में चलते हुए मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखकर पकड़ लिया और धनुष में बाँध कर 'वाह खूब अच्छा हुआ' ऐसा बोलकर भ्रमण करने से क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होने के कारण जल्दी से घर को चल दिया । यह देखकर मृग, काक, मूषिक तीनों बड़े शोकातुर होकर व्याध के पीछे २ जाने लगे और हिरण्यक विलाप करने लगा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९३॥

अ०—अहम् अर्णवस्य पारमिव यावत् एकस्य दुःखस्य अन्तं न गच्छामि, तावत् द्वितीयं समुपस्थितम् । छिद्रेषु अनर्थाः बहुलीभवन्ति । व्या०—अहम् अर्णवस्य=समुद्रस्य, पारम्=अपरतीरम् इव=यथा, न गम्यते, तद्वत् एकस्य दुःखस्य=कूर्ममित्रवियोगस्य वा स्वधननाशात्मकस्य वा चित्रग्रीवबन्धनजनितस्य कष्टस्य वा अन्तम्=अवसानं विस्मरणमिति यावत् । न गच्छामि=न प्राप्तोऽस्मि, तावत्=तन्मध्ये एव, द्वितीयं=कूर्मबन्धनात्मकं दुःखम् , उपस्थितम् । यतः छिद्रेषु=रन्ध्रेषु सत्सु, अनर्थाः=आपत्तयः, बहुलीभवन्ति=बहुप्रकारका भवन्ति इति ।

भा०—समुद्र के अन्त के समान एक दुःख (धननाश अथवा चित्रग्रीव का बन्धन अथवा कूर्म का वियोग) का अन्त नहीं हुआ उतने में मुझे दूसरा दुःख (कूर्म-बन्धन) भी उपस्थित हुआ क्योंकि छिद्र, अवसर वा मौका मिलने पर बहुत से अनर्थ (दुःख) होते हैं ॥ १९३ ॥

स्वभावजं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ १९४ ॥

अ०—यत् , स्वभावजं मित्रं भाग्येनैव अभिजायते, तत् तु अकृत्रिमसौहार्दम् (मित्रम्) आपत्सु अपि न मुञ्चति । व्या०—यत् स्वभावजं=स्वभावेन निसर्गेण, एव निष्पन्नं, मित्रं=सुहृत् , भाग्येन=प्राक्सञ्चितपुण्येन एव, अभिजायते=स्वयोगं गतं भवति । तत् तु=तादृशस्वाभाविकमित्रन्तु, अकृत्रिमसौहार्दं=न कृत्रिमम् अकृत्रिमं तादृशं यत् सौहार्दं प्रेमभावः तत् , (कर्म) आपत्सु अपि=महतीषु

आपत्सु प्राप्तासु अपि, न मुञ्चति = न परित्यजति ।

भा०—जो स्वाभाविक मित्र है वह भाग्य से मिलता है । वह मित्र अकृत्रिम (स्वाभाविक) मित्रता को बड़ी आपत्तियों में भी नहीं छोड़ता है ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ १९५ ॥

अ०—पुंसां स्वभावजे मित्रे यादृक् विश्वासः (भवति) तादृशः न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति)। व्या०—पुंसां = पुरुषाणाम् , स्वभावजे स्वभावेन जायते इति स्वभावजम् = अकृत्रिमम् तस्मिन् , मित्रे = सुहृदि, यादृक् = यादृशः, विश्वासः भवति, तादृशः = तादृक् , विश्वासः, न मातरि विशेषेण मान्यते या सा माता तस्यां जनन्याम् , न भवति । न दारेषु = पत्न्यामपि न भवति । न सोदर्ये = समाने एकस्मिन् उदरे शयितः, सोदर्यः भ्राता तस्मिन् , न भवति । न आत्मजे = आत्मनः स्वस्मात् जायते स आत्मजः = स्वतनयः तस्मिन्नपि न भवति ।

भा०—पुरुषों का स्वाभाविक मित्र में जैसा विश्वास होता है, वैसा न माता में, न स्त्री में, न भाई में और न तो पुत्र में ही होता है ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य प्राह–'अहो मे दुर्दैवम्' ।

भा०—इस प्रकार बारंबार विचार करके हिरण्यक बोला–'अरे ! मेरा दुर्भाग्य है'।

यतः—स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥१९६॥

अ०—जन्मान्तराणि दशान्तराणि इव, यानि स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि, तानि मया इहैव दृष्टानि । व्या०—जन्मान्तराणि=एतत् जन्म एव अन्तरं व्यवधानं प्राप्तौ येषां तानि इति जन्मान्तराणि=आगामीनि जन्मानि, प्राप्यानि इत्यर्थः । तादृशानि यानि, दशान्तराणि = अन्याः परस्परं विभिन्नाः दशाः अवस्थाः इति दशान्तराणि, बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदाः इत्यर्थः । तानि इव = जन्मान्तरोपात्ते शरीरे एव तदीयबाल्याद्यवस्थाभेदाः यथा भोग्याः भवन्ति, तथा जन्मान्तरे एव भोक्तुं योग्यानि यानीति समुदितसादृश्यार्थः । स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि=स्वस्य कर्माणि शुभाऽशुभाचरणानि तेषां सन्तानाः धाराक्रमाः, तेषां विचेष्टितानि = विलसितानि, स्वकृतकर्मणां क्रमेण क्रमशः आगम्यमानानीत्यर्थः । कालान्तराऽऽवर्त्तिशुभाऽशुभानि = अन्यः कालः कालान्तरं जन्मान्तरम् तस्मिन् आवर्तीनि भावीनि शुभानि अशुभानि च फलानि । तानि=सर्वाणि, मयैव इहैव= अस्मिन्नेव जन्मनि, दृष्टानि=भुक्तानि इति ।

भा०—जैसे जन्मान्तरीय शरार की बाल्य-यौवनादि अवस्थायें जन्मान्तरीय शरीरमें ही

भोग्य होती हैं, वैसे ही अपने किये हुये कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ फल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं । लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पड़ा ॥

अथवा इत्थमेवैतत् । (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

कायः सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १९७ ॥

अ०—कायः सन्निहिताऽपायः, सम्पदः आपदां पदम् , समागमाः साऽपगमाः, उत्पादि सर्वं भङ्गुरम् । व्या०—कायः = पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपायः=सन्निहितः समीपवर्ती अपायः नाशः मरणं यस्य सः चिनश्वरो भवतीत्यर्थः । सम्पदः = सम्पत्तयः आपदाम् = नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पदं=स्थानं भवन्ति । समागमाः= इष्टजनसंयोगाः, साऽपगमाः = अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिताः सन्तः भवन्तीत्यर्थः । उत्पादि = उत्पत्तिशीलम् , सर्वं=यावद्वस्तुजातम् , भङ्गुरं = ध्वंसस्वभावमिति भवति ।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है । सम्पत्ति सब दुःख का स्थान रूप है । मित्रादिसमागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं । (इसलिये शोक क्यों करना) ॥ १९७ ॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥

अ०—शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनं मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्नं केन सृष्टम् ? व्या०—शोकारातिभयत्राणम्=शोकः विषादः एव अरातिः शत्रुः तस्मात् यत् भयं तस्मात् त्राणं यस्मात् तत् , अथवा शोकश्च अरातिश्च भयं चेति तेभ्यः त्राणं यस्मात् तत् तादृशम् , प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयोः भाजनम् , स्नेहविश्वासयोः पात्रमित्यर्थः । 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम्=अक्षरयोः द्वयं यस्मिन् तत् , इत्यक्षरद्वयम् रत्नम् = अमूल्यं ललाम केन = विधात्रा, सृष्टम् = उत्पादितम् ।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थानरूप 'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस महापुरुषने उत्पन्न किया है ? ॥ १९८ ॥

किञ्च—**मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः**
पात्रं यत् सुखदुःखयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते ।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥१९९॥

अ०—यत् मित्रं नयनयोः प्रीतिरसायनं, चेतसः आनन्दनं, सुखदुःखयोः समं पात्रम्, इदं पुण्यात्मना लभ्यते। ये च समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुलाः, अन्ये सुहृदः, ते सर्वत्र मिलन्ति, तेषान्तु विपत् तत्त्वनिकषग्रावा (भवति)। व्या०—यत् मित्रं= सुहृत्, नयनयोः=नेत्रयोः, प्रीतिरसायनम्=प्रीत्यात्मकस्य रसस्य अयनं स्थानम्, स्नेहाख्यरसस्यौषधमित्यर्थः, भवतीति शेषः। चेतसः=अन्तःकरणस्य, आनन्दनम्=आनन्दयतीति आनन्दनम् आह्लादकरं भवति। सुखदुःखयोः=सुखं च दुःखं च तयोः, सम पात्रम्, दुःखे सति समसुखभाजनम्, दुःखे सति च समदुःखभाजनं भवतीत्यर्थः। इदम्=एतादृशं मित्रं, पुण्यात्मना=पुण्यवता, लभ्यते= आसाद्यते। ये च, समृद्धिसमये=सम्पत्समये, द्रव्याऽभिलाषाकुलाः=द्रव्यस्य धनस्य अभिलाषेण लालसया आकुलाः, अन्ये=स्वार्थपरायणाः, सुहृदः=मित्राणि, भवन्ति, ते तु=स्वार्थपरायणास्तादृशाः सुहृदस्तु। सर्वत्र=स्थले स्थले, मिलन्ति। तेषान्तु= स्वार्थपरायणमित्राणान्तु, विपत्=आपत्तिः, तत्त्वनिकषग्रावा=तत्त्वस्य मित्रत्वस्य निकषः परीक्षकः ग्रावा प्रस्तरः भवतीति।

भा०—जो मित्र नेत्रों की प्रीतिका औषधिरूप है, तथा चित्तको आनन्ददायक है, एवं सुखदुःखका समानभागी है, ऐसे मित्र किसी पुण्यात्मा को मिलते हैं, और जो सम्पत्ति के समय में धन की आशा रखनेवाले हों वैसे मित्र तो सब जगह सुलभ हैं, ऐसे स्वार्थी मित्रों की विपत्ति-समय में परीक्षा हो जाती है॥ १९९॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तौ ऊचतुः—'सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु, नूनमनेन लुब्धकेन मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्, ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि, सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

व्या०—इति=इत्येवं प्रकारेण, बहु विलप्य=अतिविलापं कृत्वा, हिरण्यकः= मूषिकराजः, चित्राङ्गलघुपतनकौ=मृगकाकौ आह—अयं व्याधः=लुब्धकः, वनात्= अरण्यात्, यावत्=यावता समयेन, न निःसरति=न बहिर्गच्छति, तावत्=तावता कालेन, मन्थरं मोचयितुं=व्याधबन्धनात् मुक्तं कर्तुं, (युष्माभिः) यत्नः=चेष्टा, क्रियतां=विधीयताम्। तौ=काकहरिणौ ऊचतुः यथा=येन प्रकारेण, कार्यं=कर्तुं योग्यं भवति तत् सत्वरं=शीघ्रम्, उपदिश=त्वमेव आदिश। हिरण्यको मूषिको ब्रूते चित्राङ्गः=अयं हरिणः, जलसमीपं=जलस्य समीपं गत्वा, आत्मानं=स्वम्, मृतमिव, निश्चेष्टं=न विद्यते चेष्टा यस्य तत् तथाविधम्, दर्शयतु। काकश्च, तस्य=

मृगस्य उपरि, स्थित्वा = अवस्थाय, किमपि = कीटादिमिषाऽऽभासम् चञ्च्वा विलि- खतु = चञ्चुपुटेन विकर्षतु, (तदवलोक्य) मृगमांसार्थिना = मृगस्य मांसम् अर्थयते इति मृगमांसार्थी तेन, तथाविधेन, अनेन = लुब्धकेन, नूनम् = अवश्यम्, तत्र = तस्मिन्नेव स्थले, कच्छपं = मन्थरं, परित्यज्य, सत्वरं = शीघ्रं, (मृगं प्रति) गन्तव्यं ततः = पश्चात्, अहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि । लुब्धके च (युवयोः) सन्निहिते= समीपे आगते सति, भवद्भ्यां = युवाभ्यामपि, शीघ्रं पलायितव्यम् ।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काक से कहा कि–'जब तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये'। मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह जल्दी कहो'। हिरण्यक ने कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे। यह देखकर मृगमांस का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को वहाँ ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे से मैं मन्थर के बन्धन को काट डालूँगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं मृगमपश्यत् । ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्ट- मना मृगान्तिकं चलितः । अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम् । छिन्नबन्धनः कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृगः आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतत् ममाऽसमीक्ष्यकारिणः' ।

व्या०—ततः = तादृशं विचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्रं, व्याधस्य पुरः= जलाशयसमीपे गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति = मृतवदाचरिते सति, परिश्रान्तः स व्याधः, पानीयं = जलं, पीत्वा, तरोः = वृक्षस्य, अधस्तात् = छायायाम्, उपविष्टः सन्, तथाविधं = मृतमिव मृगम्, अपश्यत् । ततः कच्छपं = मन्थरम्, जलसमीपे= जलस्य समीपे, निधाय = स्थापयित्वा, कर्तरिकां = छुरिकाम्, आदाय = गृहीत्वा, प्रहृष्टं प्रसन्नं मनो यस्य तथाविधः सन्, मृगान्तिकं = मृगस्य अन्तिकम्, चलितः= प्रस्थितः । अत्रान्तरे = एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धनं छिन्नं = कर्तितम् । सः कूर्मः छिन्नबन्धनः = मुक्तबन्धनः सन्, सत्वरं = त्वरया, जलाशयं = ह्रदं प्रविष्टः । स च मृगः= चित्राङ्गः तं= व्याधम्, आसन्नं = निकटवर्ति- नम्, विलोक्य = दृष्ट्वा, उत्थाय = उत्प्लुत्य, द्रुतं = सत्वरम्, पलायितः = धावितः,

लुब्धकः प्रत्यावृत्य = प्रत्यागत्य, यावत् तरुतलम् = तरोः तलम्, आयाति = आगच्छति, तावत् कूर्मं = कच्छपम्, अपश्यन्=अविलोकयन् सन्, अचिन्तयत्, असमीक्ष्यकारिणः=सम्यग् ईक्षित्वा करोतीति समीक्ष्यकारी तथाविधो न भवतीति असमीक्ष्यकारी अविमृश्यकार्यकारीत्यर्थः। तस्य=तादृशस्य, मम = मत्कृते एतत्=कूर्महानिर्मृगाऽप्राप्तिश्चेति, उचितमेव=योग्यमेव जातमिति।

भा०—वैसा विचार करने के बाद मृग और काक दोनों ने आकर तत्काल मृतवत् आचरण किया। थका हुआ व्याध भी पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठते ही मृतवत् मृग को देखकर कच्छप को जल के समीप रखकर छूरी लेकर प्रसन्नता पूर्वक मृग की ओर गया, इसी अवसर में हिरण्यक ने आकर मन्थर का बन्धन काट डाला, वह मन्थर भी जल्दी से पानी में चला गया और उधर वह मृग भी व्याध को समीप में आया देखकर अकस्मात् उठकर भाग गया। व्याध लौटकर जब वृक्ष के नीचे आया तो वहाँ कच्छप को भी न देखकर चिन्ता करने लगा कि-अविचार्य कार्य करने वाले मेरे लिये यह ठीक ही हुआ।

यतः—**यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।**
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि॥ २००॥

अ०—**यः ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते, तस्य ध्रुवाणि नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि।** व्या०—**यः जनः, ध्रुवाणि = निश्चितानि निश्चलानि वा, परित्यज्य = विहाय, अध्रुवाणि = अनिश्चितानि अचिरचलानि वा, निषेवते = अवलम्बते। तस्य= जनस्य, ध्रुवाणि = निश्चलानि स्वेनैव परित्यक्तत्वात् नश्यन्तीति, अध्रुवम् = अनिश्चितन्तु प्रथममेव स्वायत्तं न भवति अतस्तन्नष्टमेव वर्तते इति।**

भा०—जो मनुष्य ध्रुव (स्थिर) वस्तु को त्याग कर अध्रुव वस्तु का अवलम्बन करता है उसकी ध्रुव वस्तु त्याग से नष्ट हो चुकी और अध्रुव तो नष्ट ही है। (इसलिये दोनों प्रकार से हानि होती है)॥ २००॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः, मन्थरादयश्च सर्वे मुक्ताऽऽपदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः।

व्या०—**ततः = तत्पश्चात्, असौ=व्याधः, स्वकर्मवशात्=स्वस्य यत् अविमृश्यकारित्वरूपं कर्म तस्य वशात्, निराशः-निः=हता आशा यस्य सः तथाविधः सन्, कटकं= शिबिरं स्वस्थानं, प्रविष्टः = गतः। मन्थरादयश्च सर्वे = मन्थरकाककूर्महरिणाः, मुक्तापदः=मुक्ता—नष्टा आपत् येषान्ते आपत्तिरहिताः सन्तः, स्वस्थानं= स्वेषां स्थानम्, गत्वा, यथासुखं=सुखम् अनतिक्रम्य वर्तन्ते इति यथासुखं शान्तिपूर्वकम्, आस्थिताः=वसन्ति स्म।**

भा०—उसके बाद वह व्याध अपने कर्मवशसे निराश होकर अपने स्थानको चला गया,

और मन्थर-चित्राङ्ग-लघुपतनक तथा हिरण्यक ये सब आपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान में जाकर आरामपूर्वक रहने लग गये।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वे श्रुतवन्तः। सुखिनो वयम्, सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच—'एतद्भवतामभिलषितमपि सम्पन्नम्, अपरमपि इदमस्तु—

व्या०—अथ=काकादिकथासमाप्त्यनन्तरम्, राजपुत्रैः=राज्ञः पुत्राः तनयाः तैः सानन्दम्=आनन्देन सहितं यथा स्यात् तथा, उक्तम्=अभिहितम्=सर्वे वयं=वयं सर्वे राजपुत्राः (भवदुक्तं मित्रलाभाख्यं प्रबन्धम्) श्रुतवन्तः=आकर्णितवन्तः, अथ च सुखिनः=अतिहृष्टाः भवामः, किञ्च नः=अस्माकम्, समीहितम्=अभिलषितम्, यदासीत्, तत् सिद्धं=सम्पन्नमिति। तदा विष्णुशर्मोवाच—एतावत्=मित्रलाभाख्यनिबन्धमात्रम्, भवतां=राजपुत्राणाम्, अभिलषितं सम्पन्नम्, अपि च, अपरमपि=मित्रलाभकथाऽतिरिक्तम्, इदम्=वक्ष्यमाणमपि, अस्तु=भवतु—

भा०—कौवे आदि की कथा समाप्त होने पर राजपुत्रों ने आनन्द के साथ कहा—'हम सब मित्रलाभाख्य नीति को श्रवण करके खूब सुखी हुए हैं, हमारी इच्छा पूर्ण हुई। तब विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—यह मित्रलाभ रूप नीतिविचार आपकी अभिलाषानुसार सुसम्पन्न हुआ और यह भी हो—

मित्रं यान्तु च सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः॥ २०१॥

अ०—सज्जनाः मित्रं यान्तु, जनपदैः लक्ष्मीः समालभ्यताम्, भूपालाः शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः वसुधां परिपालयन्तु, वः नीतिः नवोढा इव सुकृतिनां मानसतुष्टये आस्ताम्, भगवान् चन्द्रार्धचूडामणिः जनस्य कल्याणं कुरुताम्। व्या०—सज्जनाः=सन्तश्च ते जनाः साधवः, मित्रं=सुहृदम्। यान्तु=लभन्ताम्, जनपदैः=जनपदवासिजनैरित्यर्थः। लक्ष्मीः=विविधा सम्पद्, समालभ्यतां=समासाद्यताम्। भूपालाः=भुवं पृथ्वीं पालयन्ति इति भूपालाः, शश्वत्=सर्वदा, स्वधर्मे=स्वेषां राज्ञां धर्मः प्रजारञ्जनादिरूपो धर्मस्तस्मिन्, स्थिताः=वर्तमानाः सन्तः, वसुधां=वसुन्धरां पृथ्वीम्, परिपालयन्तु=संरक्षन्तु, सम्यग् अवन्तु इति। वः युष्माकं (राजपुत्राणाम्) नीतिः=नीतिशास्त्रविज्ञानम्, नवोढा इव नवविवाहिता तरुणीव, सुकृतिनां=पण्डितानाम् मानसतुष्टये=मानसस्य अन्तःकरणस्य तुष्टिः सन्तोषः तस्यै,

आस्ताम् = भूयात् । भगवान् = भगपदवाच्यषडैश्वर्यशाली, चन्द्रार्धचूडामणिः = चन्द्रस्य अर्धम् इति चन्द्रार्धम्, चन्द्रार्धम् एव चूडामणिर्यस्य सः अर्धचन्द्रमौलिः शङ्करः जनस्य = लोकजातस्य, कल्याणम् = अभ्युदयात्मकं निःश्रेयसात्मकं चेत्युभयविधं श्रेयः, कुरुताम् = सम्पादयतु आविर्भावयत्विति । (अत्र श्लोके नीतिर्नवोढेव वः' इत्यस्य स्थले 'नीतिः प्रणीता मया' इति पाठान्तरम् ।) शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

भा०—सज्जन पुरुषों का मित्रों के साथ समागम हो, देश तथा देशवासी लोग सम्पत्तियों से परिपूर्ण हों, राजा लोग निरन्तर स्वधर्मों में रहते हुए पृथिवी का पालन करें। आपका नीति विज्ञान नूतन विवाहिता तरुणी के समान पुण्यशाली पंडितजनों के अन्तःकरण की तुष्टि के लिए हो, (भगवान्) अर्धचन्द्र को ललाट में धारण करने वाले शङ्करजी जीव (प्राणिमात्र) का कल्याण करें ॥ २०१ ॥

॥ इति शम् ॥

स्वामिनारायणो यत्र यत्र ब्रह्मविदो जनाः । तत्र श्रीविजयश्चैव ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १ ॥
भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसङ्गते । रैवताऽद्रिसमाधारे कङ्कसौराष्ट्रविश्रुते ॥ २ ॥
वीरविद्वद्गणाऽऽपूर्णे 'जीर्णदुर्गं' निवासिभिः । श्रीकृष्णवल्लभाचार्यैः स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥३॥
विक्रमार्कनृपस्याब्दे भूनन्दनिधिभू (१९९१) दिते । चैत्रमासे शुक्लपक्षे मृगावेकादशीतिथौ ॥
हितोपदेशग्रन्थस्य मित्रलाभाऽभिधो नयः । विशेषतोऽन्वयव्याख्याभावार्थादिप्रभूषितः ॥५॥
कृत्वा मयाऽर्पितो देवे सच्चिदानन्दविग्रहे । स्वामिनारायणे साक्षाद्भगवान् स प्रसीदतु ॥६॥

इति श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन–षड्दर्शनाचार्य–साङ्ख्ययोगतीर्थ–नव्यन्यायाचार्य–पण्डित–'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य'–स्वामिनारायणविरचिता हितोपदेशीय–मित्रलाभव्याख्या समाप्ता ।



श्लोकानुक्रमणिका



पृष्ठ	श्लो०
२२१	अचिन्तितानि
२	अजराऽमरवत्
८	अजातमृतमूर्खा
६३	अज्ञातकुलशील
६९	अतिथिर्यस्य
१०५	अत्यन्तविमुखे
१०६	अर्थनाशं मनः
११	अर्थाऽऽगमो
११५	अर्थाः पादरजो
१०३	अर्थेन तु विही
१००	अदृष्टिदानं कृत
३१	अनिष्टादिष्टला
६	अनेकसंशयो
९१	अन्यथैव हि
७९	अपराधो न
१०३	अपुत्रस्य गृहं
१३५	अम्भांसि जल
७४	अयं निजः परो
६८	अरावप्युचितं
४७	अल्पानामपि
३९	अवशेन्द्रियचि
१५	अवश्यम्भाविनो
४४	असम्भवं हेम
११८	असम्भोगेन
२६	असाधना वित्त
१११	असेवितेश्वरद्वा
२२	अस्मिंस्तु निर्गुणं

पृष्ठ	श्लो०
७७	आपत्सु मित्रं
५३	आपदर्थे धनं
४५	आपदामापत
१२०	आमरणान्ताः
१४	आयुः कर्म च
१४	आहारनिद्राभय
१३३	औरसं कृतस
३३	इज्याध्ययन
४३	ईर्ष्यी घृणी त्व
६९	उत्तमस्याऽपि
१२५	उत्साहसम्पन्न
७७	उत्सवे व्यसने
२८	उत्थायोत्थाय
१८	उद्यमेन हि सि
१७	उद्योगिनं पुरुष
८१	उपकारिणि विश्रब्धे
११६	उपार्जितानां वि
१३६	उपायेन हि यच्छ
११	ऋणकर्ता पिता
७१	एक एव सुहृद्धर्मः
१४१	एकस्य दुःखस्य न
३०	कङ्कणस्य तु
११९	कर्त्तव्यः सञ्चयो
१८	काकतालीयवत्
२०	काचः काञ्चनसं
१४३	कायः सन्निहिता
२५	काव्यशास्त्रविनो

पृष्ठ	श्लो०
२३	कीटोऽपि सुमनः
१०५	कुसुमस्तबकस्येव
१३७	कुलाचारजना
१२	को धन्यो बहुभिः
११२	को धर्मो भूत
७	कोऽर्थः पुत्रेण
९३	को वीरस्य मन
३४	गताऽनुगतिको
२४	गुणा गुणज्ञेषु गुणा
९	गुणिगणगणना
९७	गुरुरग्निर्द्विजाती
९०	घर्मार्तं न तथा
९४	चलत्येकेन पादेन
१२७	जनयन्त्यर्जने
१२९	जन्मनि क्लेश
१२०	जलमग्निर्विषं
५५	जातिद्रव्यबला
६६	जातिमात्रेण किं
३४	तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो
९६	तत्र मित्र! न
१०४	तानीन्द्रियाणि
६५	तावद्भयस्य भेत
८४	तिरश्चामपि
६८	तृणानि भूमिरुद
१११	तेनाऽधीतं श्रुतं
८४	त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिः
११२	त्यजेदेकं कुलस्यार्थे

पृष्ठ	श्लो०
३७	दरिद्रान् भर कौन्तेय
,,	दातव्यमिति यद्
११८	दानं प्रियवाक्स
१०	दाने तपसि शौर्ये च
११७	दानोपभोगहीनेन
१०६	दारिद्र्याद् ह्रियमेति
१०४	दारिद्र्यान्मरणाद्वा
७९	दीपनिर्वाणगन्धञ्च
८६	दुर्जनः परिहर्तव्यः
८२	दुर्जनः प्रियवादी च
८१	दुर्जनेन समं सख्यम्
८८	द्रवत्वात् सर्वलोहा
११०	धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो
१२६	धनवानिति हि मदः
५५	धनानि जीवितञ्चैव
१०१	धनवान् बलवान् लो
९६	धनिकः श्रोत्रियो रा
११७	धनेन किं ? यो न
१०२	धनेन बलवान् लोको
१२९	धनं तावदसुलभम्
१४	धर्मार्थं यस्यैको
५४	धर्मार्थं काममोक्षा
१२८	धर्मार्थं यस्य वित्तेहा
७५	न कश्चित् कस्यचिद्
४१	न गणस्याग्रतो गच्छे
४०	नदीनां शस्त्रपाणीनां
११८	न देवाय न विप्राय
१७	न दैवमपि सञ्चिन्त्य
३८	न धर्मशास्त्रं पठतीति
१४२	न मातरि न दारेषु
१११	न योजनशतं दूरम्
३१	न संशयमनारुह्य
१२४	न स्वल्पमप्यध्यव

पृष्ठ	श्लो०
१२३	नाप्राप्यमभिवाञ्छ
२२	नाऽद्रव्ये निहिता
८८	नारिकेलसमाकारा
११७	निजसौख्यं निरु
१२५	निपानमिव मण्डूका
१३८	नियतविषयवर्ती प्रा
६९	निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु
९१	पटुत्वं सत्यवादित्वं
११२	परिच्छेदो हि पाण्डि
८०	परोक्षे कार्यहन्तारं
९५	परोपदेशे पाण्डित्य
१३८	पर्जन्य इव भूतानां
११३	पानीयं वा निरायासं
११	पुण्यतीर्थे कृतं येन
१६	पूर्वजन्मकृतं कर्म
१९	पुस्तकेषु च नाऽधीतं
३६	प्रत्याख्याने च दाने च
८१	प्राक् पादयोः पतति
३५	प्राणा यथाऽऽत्मनो
६९	बालो वा यदि वा वृ
८४	भक्षितेनाऽपि भवता
६१	भक्ष्यभक्षकयोः प्री
९१	मनस्यन्यद् वचस्य
१०५	मनस्वी म्रियते कामं
७२	मर्त्तव्यमिति यद्दुः
३५	मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः
८७	महताऽप्यर्थसारेण
४९	माता मित्रं पिता चेति
१८	माता शत्रुः पिता वैरी
३६	मातृवत्परदारेषु
८५	मार्जारो महिषो मेषः
१२१	मासमेकं नरो याति
५६	मांसमूत्रपुरीषाऽस्थि

पृष्ठ	श्लो०
१४३	मित्रं प्रीतिरसायनं
१४७	मित्रं यान्तु च सज्ज
५	मित्रलाभः सुहृद्भेदः
१००	मुखं प्रसन्नं विमला
८७	मृद्घटवत्सुखभेद्यः
७४	यत्र विद्वज्जनो ना
१७	यथा मृत्पिण्डतः
१२८	यथा ह्यामिषमाकाशे
१६	यथा ह्येकेन चक्रेण
२३	यथोदयगिरेर्द्रव्यं
११३	यदधोऽधः क्षितौ
१२२	यद् ददाति यदश्नाति
,,	यद्ददासि विशिष्टेभ्यः
१२०	यद् यदेव हि वा
६०	यद् येन युज्यते
१५	यदभावि न तद्भावि
१४०	यदाऽसत्सङ्गरहितो
८६	यदशक्यं न तच्छक्यम्
८५	यदि नित्यमनित्येन
४	यन्नवे भाजने लग्नः
५१	यस्माच्च येन च यथा
९५	यस्मिन् देशे न स
१३	यस्य कस्य प्रसूतोऽपि
१०३	यस्याऽर्थास्तस्य
५१	यस्य मित्रेण स
५८	यानि कानि च मि
१२७	येन शुक्लीकृता हंसाः
७१	योऽत्ति यस्य यदा
५७	योऽधिकाद् योजन
१४६	यो ध्रुवाणि परि
६	यौवनं धनसम्पत्तिः
९०	रहस्यभेदो याच्ञा च
१२८	राजतः सलिला

पृष्ठ श्लो०
१२८ राजानं प्रथमं
१९ रूपयौवनसम्पन्ना
५२ रोगशोकपरीताप
१०९ रोगी चिरप्रवासी
९६ लोकयात्रा भयं
४४ लोभात् क्रोधः
१३३ लोभाद्वाऽथ भया
१०९ लोभेन बुद्धिश्चलति
१० वरमेको गुणी पुत्रः
८ वरं गर्भस्रावो वर
१०७ वरं मौनं कार्यम्
११४ वरं वनं व्याघ्रग
१०६ वरं विभवहीनेन
१०८ वरं शून्या शाला
४६ विपदि धैर्यमथाभ्युद
३ विद्या ददाति विनयम्
४ विद्या शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च
१२५ विनाऽप्यर्थैर्धीरः
५५ विना वर्तनमेवैते
१२६ वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत
४२ वृद्धस्य वचनं ग्राह्यं
५८ व्योमैकान्तविहा

पृष्ठ श्लो०
४१ शङ्काभिः सर्वमा
५६ शरीरस्य गुणानां
५८ शशिदिवाकरयोः
८६ शत्रुणा न हि सं
१२३ शास्त्राण्यधीत्यापि
८९ शुचित्वं त्यागिता
२८ शोकस्थानसहस्राणि
१४३ शोकारातिभय
१ श्रुतो हितोपदेशो
१३१ श्लाघ्यः स एको
४७ षड् दोषाः पुरुषेणेह
२ संयोजयति विद्यैव
११४ संसारविषवृक्षस्य
४८ संहतास्तु हरन्तीमे
,, संहतिः श्रेयसी
८० संलापितानां मधुरैः
९ स जातो येन जातेन
४५ स बन्धुर्यो विपन्नानां
११५ सत्सङ्गः केशवे
१२० सन्त एव सतां
११० सन्तोषामृततृप्तानाम्
४७ सम्पदि यस्य न

पृष्ठ श्लो०
२ सर्वद्रव्येषु विद्यैव
४० सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते
७१ सर्वहिंसानिवृत्ता ये
११० सर्वाः सम्पत्तयः
४० स हि गगनविहारी
१२९ सा तृष्णा चेत्
८५ साधोः प्रकोपित
१ सिद्धिः साध्ये सतां
१२४ सुखमापतितं से
४१ सुजीर्णमन्नम्
४३ सुमहान्त्यपि
७८ सुहृदां हितकामानाम्
१०८ सेवेव मानमखिलं
९३ स्थानमुत्सृज्य गच्छ
९२ स्थानभ्रष्टा न
८९ स्नेहच्छेदेऽपि
१४२ स्वकर्मसन्तान
१४१ स्वभावजन्तु
७२ स्वच्छन्दवनजातेन
१३ हा हा पुत्रक !
२१ हीयते हि मतिः



पं० विष्णुशर्मप्रणीतम्

पंचतन्त्रम्

'ज्योत्स्ना' 'मृदुला' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित

सम्पादक एवं व्याख्याकार-डॉ० सुधाकर मालवीय

पञ्चतन्त्र विश्व-पशुकथा की परम्परा में भारत की एक महान् देन है। इसके लेखक पं० विष्णु शर्मा हैं। इसमें सरल संस्कृत भाषा में अनेक पशु-कथाएँ वर्णित हैं जिनमें जीवन की विविध समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

'पञ्चतन्त्र' का सर्वप्रथम परिष्कार एवं परिबृंहण प्रसिद्ध जैन विद्वान् पूर्णभद्र सूरि ने संवत् १२५५ में किया था। आजकल का उपलब्ध संस्करण इसी पर आधृत है।

'पञ्चतन्त्र' में पाँच तन्त्र या विभाग हैं—मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीयम् (सन्धि-विग्रह), लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक। इसके प्रत्येक अंग में एक मुख्य कथा होती है और उसको पुष्ट करने के लिए अनेक गौण कथाएँ गुंफित होती हैं।

पञ्चतन्त्र का प्रस्तुत संस्करण गद्य एवं श्लोकों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने वाला अद्यावधि प्राप्त संस्करणों में प्रथमतः है। सभी श्लोकों की व्याख्या में उनके छन्द एवं अलंकार का भी निर्देश है। अद्यावधि प्राप्त मूल बहुत भ्रष्ट था। अतः विद्वान् सम्पादक ने डॉ० हर्टेल द्वारा सर्वप्रथम सम्पादित हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज (१३) के संस्करण से सहायता लेकर इसका मूल शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रकार विभिन्न सूक्ति-विषयक परिशिष्टों और विस्तृत भूमिका तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ परिक्षार्थी एवं शोधार्थी छात्रों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

मित्रभेद ५०-००, मित्रसम्प्राप्ति २५-००, सम्पूर्ण १५०-००

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१